अशोक

(चार अंकों का एक ऐतिहासिक नाटक)

गोविन्ददास

भारती साहित्य मन्दिर
एस० चन्द एण्ड कम्पनी से सम्बद्ध

आसफअली रोड — नई दिल्ली
फव्वारा — दिल्ली
माईहीरां गेट — जालन्धर
लाल बाग़ — लखनऊ

मूल्य २॥)

निवेदन

केवल भारतीय इतिहास में ही नहीं परन्तु संसार के इतिहास में अशोक का अद्वितीय स्थान है।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध साहित्यज्ञ और इतिहासकार श्री एच. जी. वेल्स ने अपने 'संसार के इतिहास' ग्रन्थ में अशोक के विषय में लिखा है—

"इतिहास के सैकड़ों नरेशों और सम्राटों के नामों के बीच अशोक का एक मात्र नाम तारे की भाँति चमकता जान पड़ता है।"

चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य की सहायता से जिस मौर्य साम्राज्य की भारत में स्थापना की थी वह साम्राज्य चन्द्रगुप्त के पुत्र बिंदुसार के समय वैसा ही रहा। बिंदुसार का बहुत कम विवरण इतिहास में मिलता है। परन्तु अशोक ने एक तो उसमें वृद्धि की, दूसरे इसके लिए जो कलिंग देश में युद्ध हुआ, उस युद्ध के पश्चात् अशोक के हृदय में ऐसा परिवर्तन हुआ कि उसके समस्त आदर्श ही बदल गये और हर प्रकार की जीव-हिंसा छोड़ उसने सारे संसार को अहिंसा के द्वारा प्रेम-सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया। अशोक ने जो कुछ किया उस के सम्बन्ध में उसने अनेक शिलालेख लिखाये और इनमें से

न शिलालेखों का अब पता लगता है उससे भी ज्ञात होता कि उसने कितने महान् कार्य किये थे।

दो संसारव्यापी युद्धों की विभीषिका के कारण कहीं तीसरा विश्वव्यापी युद्ध न हो जाय इस भय से समस्त संसार काँप रहा है। महात्मा गान्धी ने अहिंसा और प्रेम के सिद्धान्तों को राजनैतिक क्षेत्र में भी दुनियाँ के सामने रक्खा। अहिंसा और प्रेम के सिद्धान्तों पर चलकर भारत स्वतंत्र हुआ और उन्हीं सिद्धान्तों पर गान्धीजी के उत्तराधिकारी भारत-रत्न पं० जवाहरलाल नेहरू चल रहे हैं। इन्हीं सिद्धान्तों को आज विश्व के अधिकांश विचारक संसार के त्राण का एक मात्र उपाय मानते हैं; इसीलिए भारत के बाहर जहाँ-जहाँ भी पं० नेहरू गये हैं और जा रहे हैं सभी जगह की जनता ने उनका अभूतपूर्व स्वागत किया है और वह अभूतपूर्व स्वागत र रही है।

भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् सारनाथ के अशोक-स्तंभ ा चार सिंहों वाला मुकुट आधुनिक स्वतंत्र भारत का राज-चिह्न बनाया गया है और इसी स्तंभ के अशोक-चक्र ने भार-तीय ध्वज के मध्य स्थान पाया है।

प्रस्तुत नाटक की रचना अशोक की जीवनी पर की गयी है। इसका न तो कोई पात्र काल्पनिक है और न कोई घटना। पात्रों में कुणाल की पत्नी को छोड़ शेष सभी पात्रों के नाम भी ऐतिहासिक हैं। कुणाल की पत्नी भी पात्र तो ऐतिहासिक ही है पर उसका नाम काञ्चनमाला कदाचित् काल्पनिक है।

उस समय जम्बूद्वीप भारत का नाम था या एशिया का, इस विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। मैंने इस नाटक में जम्बूद्वीप भारत का नाम न मानकर समूचे एशिया का माना है।

इस नाटक में दूसरे अंक के तीसरे दृश्य में एक फुटनोट है कि कलिंग का युद्ध सिनेमा से भी दिखाया जा सकता है। उपसंहार का तो पूरा दृश्य ही सिनेमा से दिखाया जाने वाला है, परन्तु यदि सिनेमा की व्यवस्था न हो सके तो दूसरे अंक के तीसरे दृश्य का वह भाग तथा उपसंहार छोड़कर भी नाटक खेला जा सकता है।

इस नाटक के लिखने में मुझे निम्नलिखित ग्रन्थों से सहायता मिली है—

(१) केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, प्रथम भाग।

(२) दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इण्डियन पीपुल का दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, दूसरा भाग।

(३) डाक्टर भंडारकर कृत—अशोक।

(४) डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी कृत—मैन एण्ड थाट इन एनशेण्ट इण्डिया।

(५) डाक्टर बेनीमाधव बरुआ कृत—अशोक एण्ड हिज इन्सक्रिपशन्स।

(६) गुण्डोपन्त हरिभक्त कृत—अशोक और उसके लेख।

(७) डाक्टर हरिश्चन्द्र सेठ कृत—अशोक।

इस नाटक में अशोक के जिन शिलालेखों को दिया गया है उनके हिन्दी अनुवाद प्रायः डाक्टर हरिश्चन्द्र सेठ की अशोक पुस्तक से लिये गये हैं । शिलालेखों में से कौन शिलालेख महत्त्व के हैं इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हो सकते हैं, परन्तु किसी भी लेखक को ऐसे मामलों में अपने मत पर ही चलना पड़ता है । अतः मेरी दृष्टि से अशोक के जो शिलालेख महत्त्व के हैं और इस नाटक के उपयुक्त, उन्हीं को इसमें रखा गया है ।

मेरे अन्य अधिकांश नाटकों के सदृश इस नाटक के गीत भी मेरी पुत्री रत्नकुमारी के लिखे हुए हैं ।

—गोविन्ददास

मुख्य पात्र, स्थान और समय

मुख्य पात्र : नाटक में प्रवेश के अनुसार

असंधिमित्रा	:	(देवी, शाक्य कुमारी) अशोक की पहली रानी, विदिशा के एक देव नामक व्यापारी की पुत्री।
अशोक	:	उज्जैन का राष्ट्रीय (राज्यपाल, गवर्नर), बाद में तक्षशिला का राष्ट्रीय, बाद में भारत सम्राट्।
महेन्द्र	:	अशोक का पुत्र, जो भिक्षु हुआ और सीलोन गया।
संघमित्रा	:	अशोक की पुत्री, जो भिक्षुणी हुई और सीलोन गयी।
सुभद्रांगी	:	चंपा के एक ब्राह्मण की पुत्री और अशोक की माता।
राधागुप्त	:	अशोक का महामन्त्री।
विगताशोक	:	(तिस्स) अशोक का छोटा भाई।
बिंदुसार	:	अशोक का पिता, भारत सम्राट्।
कारुवाकी	:	अशोक की दूसरी रानी।
कुणाल	:	अशोक का पुत्र, तक्षशिला का राष्ट्रीय।
तीवर	:	अशोक का कारुवाकी से उत्पन्न पुत्र।
उपगुप्त	:	(मोगल्लीपुत्त तिस्स) अशोक का बौद्ध गुरु।
तिष्यरक्षिता	:	(तिष्यरक्षा) असंधिमित्रा की दासी, आगे चलकर अशोक की रानी जिसने कुणाल को अन्धा किया।
काञ्चनमाला	:	कुणाल की पत्नी।
दशरथ (सम्प्रति)	:	कुणाल का पुत्र, बाद में मौर्य साम्राज्य का युवराज।

स्थान

नाटक के	:	अवन्ति, पाटलिपुत्र, कलिंग देश में एक युद्ध-क्षेत्र।
उपसंहार का	:	दिल्ली।

समय

नाटक का	:	ईसा के २६३ वर्ष पूर्व से ईसा के २३५ वर्ष पूर्व तक।
उपसंहार का	:	सन् १९४७।

'अशोक' नाटक में आये हुए कुछ प्राचीन शब्दों का अर्थ

पृष्ठ ५—राष्ट्रीय =राज्यपाल, गवर्नर।
पृष्ठ १०—महामात्य =प्रधान मन्त्री।
" "—लिपिकार =लिखने वाला।
" "—मुद्रिका =मोहर (सील)।
पृष्ठ १४—गर्भागार =राजभवन का भीतरी भाग।
" "—अवरोधन =अन्तःपुर, जनानख़ाना।
पृष्ठ १५—महादेवी =पटरानी।
पृष्ठ २३—राजुक =राज्य-कर्मचारी जिसका स्थान आधुनिक कमिश्नर के सदृश होता था।
" "—युक्त =राज्य-कर्मचारी जिसका स्थान आधुनिक काल के जिलाधीश के सदृश होता था।
पृष्ठ २४—उष्णीश =सिर पर बाँधने का एक प्रकार का वस्त्र, पगड़ी या साफा।
पृष्ठ २७—विहार-यात्रा =अशोक के समय की वह यात्रा जिनमें नागरिक खा-पीकर आनन्द करने के लिये इधर-उधर घूमते थे।
पृष्ठ ७५—नगर व्यावहारिक=वह कर्मचारी जिसके आधीन नगर का प्रबन्ध रहता था।
" "—प्रदेष्ट्री =वह राज्य-कर्मचारी जिसके आधीन कोई विशिष्ट प्रदेश रहता था।
पृष्ठ ७८—उपयुक्त =छोटे राज्य-कर्मचारी।
" "—विनययुक्त =उपयुक्त से छोटे राज्य-कर्मचारी।
" "—ग्राम कूट =ग्राम का राज्य-कर्मचारी।
" "—अंत महामात्य =सीमाप्रान्तों का उच्च राज्य-कर्मचारी।
" "—व्रजभूमिक =वे राज्य-कर्मचारी जो गोचर भूमि का प्रबन्ध करते थे।
" "—गुप्तदूत =दूत।
पृष्ठ ७९—अनुस्थानयन =एक परिषद् जिसमें प्रजा के प्रतिनिधि भाग लेते थे।

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान : अवन्ति के राजभवन में असंधिमित्रा का कक्ष

समय : उषःकाल

[कक्ष काष्ठ का बना हुआ है। इसकी तीन ओर की भित्तियाँ दीखती हैं, जिनके काष्ठ पर खुदाव का काम है। भित्तियों में कुछ छोटे-छोटे द्वार और खिड़कियाँ भी हैं। भित्तियों पर कुछ रंगीन चित्र लगे हैं, पर इन पर काँच नहीं हैं। कक्ष की छत भी काष्ठ की है और उस पर भी खुदाव का काम है। कक्ष की भूमि पर रंग-बिरंगी बिछावन बिछी है, जिस पर काष्ठ के शयन (एक प्रकार के उस काल के सोफा) और काष्ठ की आसन्दियाँ (एक प्रकार की उस काल की कुर्सियाँ) रखी हैं। शयन और आसन्दियों पर श्वेत वस्त्र से ढकी हुई गद्दियाँ बिछी हैं और गद्दियों पर श्वेत वस्त्र से ढके हुए तकिये लगे हैं। चांदी की कुछ दीवटों पर दीप जल रहे हैं और कुछ धूपदानियों से धूप का मन्द-मन्द धूम उठ रहा है। एक शयन पर असंधि-मित्रा बैठी हुई तमूरा बजाकर गा रही है। असंधिमित्रा लग-भग तीस वर्ष की गौर वर्ण की अत्यन्त सुन्दर स्त्री है, मुख और शरीर के सारे अवयव ढले हुए से। वह शरीर पर कौशेय वस्त्र की साड़ी पहने है, उसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बांधे

है। उसके अंगों पर स्वर्ण के रत्न-जटित आभूषण हैं।]

गीत

छिपी तारों में मृदु झंकार।
लीन विस्मृति में सुख का सार,
हृदय की स्मृतियों का मधुभार,
जगाता एक नया संसार।
मधुर, नव, मूक, सलज उल्लास,
मौन अधरों पर खिलता हास,
नयन में बिम्बित स्वप्न-विलास,
विगत का सहज सरल इतिहास,
पुलक भरता तन में अनजान,
वीन से झरते सस्वर गान,
दूर से सुन किसका आह्वान,
चकित से चञ्चल होते प्राण।

[अशोक का प्रवेश। अशोक की अवस्था लगभग पैंतीस वर्ष की है। वह गेहुँए रंग का ऊँचा-पूरा गठे हुए शरीर का सुन्दर व्यक्ति है। वह भी कौशेय वस्त्र का अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण किये है। उसके अंगों में भी स्वर्ण के रत्न-जटित भूषण हैं। सिर खुला हुआ है और उस पर लम्बे केश लहरा रहे हैं। अशोक असंधिमित्रा के निकट आसन पर बैठ जाता है। अशोक को देख असंधिमित्रा तमूरे को एक ओर रख देती है।]

अशोक : कुछ पहले ही पहुँच गया होता, परन्तु…

असंधिमित्रा : (बीच ही में) परन्तु मेरे गीत की भनक ने रोक दिया ?

अशोक : हाँ, देवि, उस मधुर स्वर-लहरी में द्वार पर ही डूबा रहा। (कुछ रुककर) कितना···कितना सुन्दर एवं सुरीला गान था ; और···और उसकी मधुरता बढ़ गयी थी आज के इस मंगल दिवस के कारण।

असंधिमित्रा : आज हमारे विवाह का बारह वर्ष का एक युग पूर्ण होता है, नाथ।

अशोक : महेन्द्र भी आज दस वर्ष का हुआ और आज ही उसकी ग्यारहवीं वर्षगाँठ भी है। (कुछ रुककर) ऐसे दिवसों पर भूत की कितनी बातों का स्मरण हो आता है, प्रिये। पिताजी का मुझे इस अवन्तिका के राष्ट्रीय पद पर नियुक्त कर भेजना, विदिशा में अचानक तुम्हारे दर्शन, तुम्हारे पिता देव की अनुमति से एकाएक विवाह, कुछ ही समय में पुत्री-रत्न की प्राप्ति और उसके दो वर्ष पश्चात् ही पावन कन्या का जन्म।

असंधिमित्रा : अब तक के जीवन के संस्मरण तो बड़े सुखद हैं, नाथ।

अशोक : और भविष्य तो सदा अनिश्चित रहता ही है।

असंधिमित्रा : विशेषकर उनका भविष्य जिनका राजनीति से सम्बन्ध है।

अशोक : ठीक कहती हो, प्रियतमे, यह राजनीति सदा ही अनिश्चित रहती है।

असंधिमित्रा : उन्नति और अवनति दोनों ही दृष्टि से, नाथ ।

अशोक : हाँ, दोनों ही दृष्टि से, देवि। जिस समय भारत विदेशियों के आक्रमणों से पद-दलित हो रहा था, कौन जानता था एकाएक पितृव्य चन्द्रगुप्त का उदय होगा और वे आर्य चाणक्य की सहायता से अलक्षेन्द्र के सदृश विश्व-विजेता को भारत भूमि से निकाल देंगे। कौन जानता था पितृव्य चन्द्रगुप्त ही सिल्यूकस को हरा उनकी कन्या हेलन से विवाह करेंगे ।

असंधिमित्रा : हाँ, मौर्यवंश का अब तक का इतिहास तो अत्यन्त जाज्वल्यमान रहा है ।

अशोक : पर भविष्य की तुम्हें चिन्ता है !

असंधिमित्रा : तुम्हीं ने अभी स्वीकार किया कि राजनीति बड़ी अनिश्चित वस्तु है ।

अशोक : पितृव्य चन्द्रगुप्त की देन को पिताजी सुरक्षित तो रख सके, कोई शत्रु सिर न उठा सका इसीलिए वे अमित्राघाट की पदवी से विभूषित हैं, परन्तु राज्य का और विस्तार उनसे न हो सका। इस विश्व में वस्तुएँ स्थिर नहीं रहतीं, या तो उन्नति होती है या अवनति। भविष्य उन्नतिशील इस लिए और भी प्रतीत नहीं होता कि पिताजी वृद्ध हो गये हैं और उनके पश्चात् सुसीम के सदृश व्यक्ति सम्राट् होंगे।

असंधिमित्रा : यदि तुम्हारी विमाता के सुसीम को जन्म देने के पूर्व माता सुभद्रांगी ने तुम्हें जन्म दे दिया होता, सुसीम तुम्हारा अग्रज न होता !

[अशोक सिर झुकाकर कुछ सोचने लगता है। असंधिमित्रा उसकी ओर देखती है। कुछ देर निस्तब्धता।]

अशोक : (सिर उठाते हुए) पर एक बात जानती हो, प्रिये ?

असंधिमित्रा : क्या ?

अशोक : मुझे कई बार संस्कृत की एक उक्ति स्मरण हो आती है।

असंधिमित्रा : कौनसी ?

अशोक : 'वीर भोग्या वसुन्धरा' ।

असंधिमित्रा : (कुछ आश्चर्य से) तो क्या मौर्यवंश में गृह-कलह होगा, प्रिय !

अशोक : सुसीम के सदृश पुरुषार्थहीन, अकर्मण्य, नपुंसक व्यक्ति के हाथ में भारतीय साम्राज्य की सत्ता जाने और उसके विध्वंस, नष्ट-भ्रष्ट होने की अपेक्षा मौर्यवंश का गृह-कलह कदाचित् कहीं अधिक कल्याणकारी होगा !

[प्रतिहारी का प्रवेश। प्रतिहारी वृद्ध व्यक्ति है; लम्बी मूँछें और श्वेत दाढ़ी है। ऊपर के अंग में एक लम्बा कंचुक पहने है और नीचे के अंग में अधोवस्त्र। सिर पर पगड़ी है। अंगों में स्वर्ण के भूषण हैं। उसके हाथ में एक लम्बे पोंगले में राजपत्र है। वह आकर झुककर अभिवादन करता है तथा पत्र अशोक को देता है।]

प्रतिहारी : मगध से राजराजेश्वर का यह पत्र लेकर एक अश्वारोही आया है, श्रीमान् !

[अशोक पोंगला को खोलकर पत्र पढ़ता है। असंधिमित्रा

ोक की ओर देखती है। प्रतिहारी सिर झुकाये हाथ बाँधे
ड़ा रहता है।]

शोक : (पत्र पढ़ने के पश्चात् आतुरता से खड़े हो, प्रसन्न
मुद्रा में, प्रतिहारी से) अच्छा, तुम जाओ, प्रतिहारी।
मगध के अश्वारोही को अतिथि-आलय में सुविधापूर्वक
ठहरा दो।

[प्रतिहारी का नमन कर प्रस्थान।]

अशोक : (प्रसन्नता से असंधिमित्रा से) तक्षशिला में विद्रोह
हुआ है; सुसीम उसका दमन नहीं कर पा रहा है।
पिताजी ने मुझे तत्काल तक्षशिला प्रस्थान की आज्ञा
भेजी है। (इधर-उधर टहलने लगता है।)

असंधिमित्रा : तुमने कुछ ही क्षण पूर्व सुसीम के लिए पुरुषार्थ-
हीन, अकर्मण्य, नपुंसक विशेषणों का प्रयोग ही किया था।

अशोक : मेरे वे विशेषण कितने सही थे, उनका तुम्हें कुछ ही
क्षणों में प्रमाण मिल गया, देवि। (फिर शयन पर बैठ
जाता है।)

असंधिमित्रा : (कुछ दुखित स्वर में) तो अब तुम्हारा तक्ष-
शिला प्रस्थान होगा!

अशोक : मेरा अकेले नहीं, साथ में तुम, महेन्द्र, संघमित्रा सब
चलेंगे।

असंधिमित्रा : (कुछ आश्चर्य से) तक्षशिला के विद्रोह का
दमन सकुटम्ब चलकर करोगे, नाथ?

अशोक : यहाँ से सकुटम्ब चलेंगे। पाटलिपुत्र में तुम लोगों को

...मित्रा : कभी नहीं होगा ।

शोक : तक्षशिला के विद्रोह का दमन कर मुझे यह देखना है
कि भारतीय साम्राज्य किसी प्रकार भी उस पुरुषार्थ-हीन,
अकर्मण्य और नपुंसक व्यक्ति के हाथ में न जावे । मेरे
इस कार्य में महामात्य राधागुप्त भी मेरे सहायक होंगे ।
मेरे तक्षशिला जाने को पिताजी की आज्ञा का यह राज-
पत्र महामात्य राधागुप्त का लिखा हुआ है । उनके अक्षर
मैं पहचानता हूँ । पत्र पर गोपनीय शब्द अंकित हैं, ऐसे
पत्रों के लिए लिपिकार का कार्य स्वयं महामात्य करते हैं
और मुद्रिका के साथ हस्ताक्षर होते हैं सम्राट् के ।

[अशोक पत्र असंधिमित्रा को देता है । असंधिमित्रा उसे
पढ़ती है । कुछ देर निस्तब्धता ।]

अशोक : मैं समझता हूँ, प्रिये, मेरे उत्कर्ष का समय आ पहुँचा
है । तक्षशिला के विद्रोह का दमन मेरे बायें हाथ का
खेल है । सुसीम जो न कर सका क्षणों में कर डालने पर
मेरा जो स्थान होगा उसका तुम अनुमान कर सकती हो ।

असंधिमित्रा : वह अद्वितीय स्थान होगा ।

अशोक : पिताजी के पश्चात् यदि भारतीय साम्राज्य मेरे
हाथ में आया तो भारत के एकीकरण में जो कसर
पितृव्य चन्द्रगुप्त के समय में भी रह गयी है उसे मैं
पूर्ण करूँगा । ऐसा साम्राज्य होगा, ऐसा उसका प्रबन्ध
जैसा इस देश के इतिहास में कभी नहीं हुआ ।

[महेन्द्र और संघमित्रा का प्रवेश । महेन्द्र की अवस्था

लगभग दस वर्ष की और संघमित्रा की लगभग आठ वर्ष की जान पड़ती है। दोनों गौरवर्ण के अत्यन्त सुन्दर बालक हैं। महेन्द्र ऊपर के अंग में कौशेय वस्त्र पर सुनहरी काम का एक कंचुक पहने है और नीचे के अंग में सुनहरी काम वाले कौशेय वस्त्र का ही अधोवस्त्र है। उसके सिर पर एक छोटा सा रत्न-जटित मुकुट है। अंगों में स्वर्ण के रत्न-जटित भूषण। संघमित्रा की वेशभूषा भी महेन्द्र के सदृश ही है। इतना ही अन्तर है कि उसके सिर पर मुकुट नहीं है। उसके सिर के लम्बे केश सिर पर लहरा रहे हैं। महेन्द्र दौड़कर पहले असंधिमित्रा और फिर अशोक के चरण स्पर्श करता है। दोनों उसके सिर पर हाथ रखकर उसे आशीर्वाद देते हैं।]

असंधिमित्रा : ये वर्षगांठ के प्रणाम हैं न ?

संघमित्रा : हां मां; ये आज बड़ी-बड़ी बातें सोचकर अपने जन्म-दिन की प्रणाम करने आये हैं।

अशोक : क्या-क्या बातें सोचकर आया है, महेन्द्र ?

महेन्द्र : कुछ नहीं, पिताजी, यह बड़ी दुष्टा है। झूठ-मूठ कुछ भी कहा करती है !

संघमित्रा : आप ही कहिए मैं कभी झूठ बोलती हूँ ?

अशोक : कभी नहीं, तुम जैसी सत्यवादिनी इस सृष्टि में कभी कोई उत्पन्न ही नहीं हुई।

[अशोक और असंधिमित्रा का अट्टहास। संघमित्रा कुछ लज्जित हो जाती है।]

अशोक : (संघमित्रा से) अच्छा, ब

आया है ?

संघमित्रा : यह कहता था, आज अपने जन्म-दिन को मैं सौगंध खाता हूँ कि मैं चन्द्रगुप्त से भी बड़ा चक्रवर्ती सम्राट् होऊँगा । इसके लिए यदि रक्त की नदियाँ बहानी पड़ें तो उन्हें भी बहाऊँगा । मेरी वीरता से शत्रुओं की सेनाएँ इस तरह तितर-बितर होंगी जैसे सूर्य की किरणों से कुहरा । अपने शौर्य से मैं हिमालय के शिखरों को कँपाऊँगा ; समुद्र की लहरों तक को रोक दूँगा और अन्त में जिस प्रकार चन्द्रगुप्त ने यवन राजकुमारी हेलन से विवाह किया उसी प्रकार केवल यवन राजकुमारी से नहीं पर जितनी भी शत्रुओं की सुन्दर राजकुमारियाँ मिलेंगी उन सबसे विवाह करूँगा ।

[अशोक और असंधिमित्रा का अट्टहास । महेन्द्र कुछ लज्जित हो जाता है ।]

असंधिमित्रा : पितृव्य चन्द्रगुप्त के युद्धों का वर्णन इसने पाठ्य-पुस्तकों में पढ़ा है और उसी का अनुसरण स्वयं करना चाहता है ।

अशोक : (महेन्द्र को गोद में बिठाते हुए) हाँ-हाँ, बेटा, तुम मौर्यवंश में सबसे शूर और प्रतापी होगे । जो कोई न कर सका वह तुम करोगे ।

[असंधिमित्रा संघमित्रा को अपनी गोद में बिठा लेती है । कुछ देर निस्तब्धता ।]

अशोक : (असंधिमित्रा से) अच्छा, अब फिर से उठाओ तो

तमूरा, इस मंगल दिवस को मंगल यात्रा के समय एक मंगल गान और हो।

[असंधिमित्रा तमूरा उठा गान आरम्भ करती है।]

गीत

जागो जीवन के शुभ मंगल !
गति अवाध, पथ सहज सरल।
कुश कण्टक विरहित अवनीतल ;
ज्योतित गगन, समीर सुशीतल ;
विकच कमल, सरिता सर निर्मल ;
लक्ष्य सुलक्षित चरण अचंचल।
विगत मोह भ्रम, निश्चय अविचल ;
चिर प्रकाश उज्ज्वल अन्तस्तल।

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र के राजभवन के गर्भागार के
अवरोधन में सुभद्रांगी का कक्ष
समय : रात्रि

[कक्ष काष्ठ का है; लगभग वैसा ही और उसी प्रकार सजा हुआ, जैसा प्रथम दृश्य का कक्ष था। सुभद्रांगी इधर-उधर बेचैनी से टहलती हुई गा रही है; पर इस बेचैनी में कभी-कभी उसकी मुद्रा में प्रसन्नता भी दीख पड़ती है। सुभद्रांगी की अवस्था लगभग ५५ वर्ष की है। वर्णगौर है, वृद्धावस्था के निकट पहुँचने पर भी सुभद्रांगी में प्रौढ़ सौन्दर्य है। कौशेय वस्त्र की साड़ी पहने है और उसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे है। अंगों में स्वर्ण के जटित आभूषण हैं।]

गीत

मन रे ! संशय में मत भूल ;
चंचल आन्दोलन यह तेरा कब पायेगा कूल !
तिमिर-यवनिका सस्मित सरका, झाँक रहा अज्ञात ;
तरुण, किरण के अरुण जाल में खिला नवीन प्रभात ;
कण्टकों में विकसेंगे फूल ।
सतम, सघन, पट भेद गगन में छाया शरद विकास ;
जगती के अंचल पर बिखरा जीवन का मुख हास ;
नियति-निर्णय, निश्चय अनुकूल ।

[गीत पूर्ण होते-होते राधागुप्त का प्रवेश। राधागुप्त लगभग ४० वर्ष का गेहुँए रंग का ऊँचा-पूरा सुन्दर व्यक्ति है। कौशेय वस्त्र का अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण किये हुए है। अंगों में स्वर्ण के रत्न-जटित आभूषण हैं। सिर खुला है और लम्बे बाल हैं।

राधागुप्त : महादेवी ने मुझे आने की आज्ञा भिजवायी थी, अतः सेवा में उपस्थित हूँ।

सुभद्रांगी : हाँ, महामात्य, मैंने आपको इसलिए बुलवाया था कि अमित्राघात का स्वास्थ्य दिनोंदिन अधिकाधिक बिगड़ता ही जा रहा है। आज सन्ध्या को तो बहुत अधिक बिगड़ गया था।

राधागुप्त : मुझे ज्ञात है, महादेवी, थोड़ी देर पहले ही मैं कुछ आवश्यक राजपत्रों पर हस्ताक्षर लेने उनकी सेवा में गया था। अब तो स्वास्थ्य कुछ ठीक है।

सुभद्रांगी : हाँ, बीच-बीच में कुछ ठीक हो जाता है, परन्तु, वृद्धावस्था है, निर्बलता बहुत अधिक हो गयी है, दिन-पर-दिन स्वास्थ्य गिरता ही जाता है। मुझे एक ओर उनकी चिन्ता है, दूसरी ओर अशोक की। (शयन पर बैठती है।)

राधागुप्त : (शयन के निकट की आसन्दी पर बैठते हुए) राजपुत्र अशोक की चिन्ता से तो अब आप मुक्त हो जायें, महादेवी।

सुभद्रांगी : (कुछ आश्चर्य और कुछ प्रसन्नता से) अशोक की चिन्ता से मुक्त हो जाऊँ, कैसे मुक्त हो जाऊँ, महामात्य ?

राधागुप्त : राजपुत्र सुसीम दीर्घकाल तक तक्षशिला के जिस

विद्रोह का दमन न कर पाये थे, वरन् आये दिन सूचना मिलती थी कि वे भीरुता के कारण पलायन करने वाले हैं, उसी विद्रोह का राजपुत्र अशोक ने जिस शीघ्रता, शौर्य और साहस से दमन किया है, उसके कारण उनका राज्य में बड़ा भारी स्थान हो गया है।

सुभद्रांगी : सो तो मैं भी जानती हूँ, परन्तु अशोक के संबंध में अमित्राघाट क्या करने वाले हैं ?

राधागुप्त : मैं अभी निश्चयपूर्वक तो नहीं कह सकता, पर मुझे आशा यही है कि वे युवराज पद पर राजपुत्र अशोक को ही प्रतिष्ठित करेंगे।

सुभद्रांगी : आपको आशा है या विश्वास ?

राधागुप्त : (मुस्कराकर) आप आशा के स्थान पर विश्वास शब्द को प्रतिष्ठित कर सकती हैं। देखिए, महादेवी, मेरे लिए राजपुत्र सुसीम और राजपुत्र अशोक दोनों ही एक से हैं। राजपुत्र सुसीम अग्रज हैं, अतः युवराज पद पर उनका प्रतिष्ठित होना नियमानुकूल भी है। परन्तु मेरे लिए चाहे राजपुत्र सुसीम और राजपुत्र अशोक समान हो क्यों न हों, राजपुत्र सुसीम का युवराज होना नियमानुकूल ही क्यों न हो, परन्तु राजपुत्र सुसीम के सम्राट् होने से मुझे भारत का भविष्य अंधकारमय दीखता है। राजराजेश्वर सम्राट् चन्द्रगुप्त ने आर्य चाणक्य की सहायता से जिस चक्रवर्ती राज्य की स्थापना की वह राज्य राजपुत्र सुसीम के सम्राट् होने पर सुरक्षित रहेगा इसकी मुझे आशा नहीं है। इतना

ही नहीं, यदि राजसत्ता राजपुत्र सुसीम के हाथ में आयी तो मुझे भय है कि विदेशी पुनः इस पुण्य भूमि को पद-दलित करेंगे। अतः मेरा प्रयत्न है कि अमित्राघात राज-पुत्र अशोक को ही युवराज पद पर प्रतिष्ठित करें।

[विगताशोक का प्रवेश। विगताशोक की अवस्था लगभग तीस वर्ष की है। रंग और रूप में वह अशोक से मिलता-जुलता है। वेशभूषा राधागुप्त के सदृश। विगताशोक को देख राधा-गुप्त खड़ा हो जाता है।]

विगताशोक : महामात्य, आप माताजी से जो कुछ कह रहे थे, उसका अंतिम अंश मैंने भी सुन लिया और मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि यदि आप अपने प्रयत्न में असफल हुए और पिताजी ने आर्य अशोक को युवराज पद पर प्रतिष्ठित न किया तो सुसीम से मैं युद्ध करूँगा। मौर्यवंश के रक्त से यह भूमि प्लावित हो जायगी। परन्तु यह रुधिर भारत की भावी संकटकालीन स्थिति को बचायेगा। गृह-कलह बुरी वस्तु है; परन्तु समूचे देश के कल्याण की दृष्टि से यह गृह-कलह भी करना पड़े तो वह बुरा नहीं। जो सुसीम एक प्रदेश के विद्रोह का दमन नहीं कर सका, वह भार-तीय साम्राज्य की क्या रक्षा करेगा? मैं पलों में उसे परास्त कर राज्यसिंहासन आर्य अशोक के चरणों में अर्पित करूँगा।

राधागुप्त : (मुस्कराते हुए) शान्त होइए, राजपुत्र, और बैठिए। ऐसा अवसर ही न आयगा, इसकी मुझे आशा

[विगताशोक और राधागुप्त आसन्दियों पर बैठते हैं ।]

सुभद्रांगी : (राधागुप्त से) आपने पुनः आशा शब्द का उपयोग किया ?

राधागुप्त : (मुस्कराकर) आप पुनः आशा के स्थान पर विश्वास शब्द को प्रतिष्ठित कर सकती हैं, महादेवी ।

[विन्दुसार का प्रवेश । विन्दुसार वृद्ध और कृश हैं । रंग गेहुँआ, शरीर ऊँचा-पूरा, परन्तु कृशता के कारण कमर कुछ झुकी हुई । सिर, भवें और मूंछों दाढ़ी के समस्त केश सन के सदृश श्वेत । कौशेय का उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण है । अंगों में रत्न-जटित भूषण हैं । विन्दुसार धीरे-धीरे लाठी टेकता हुआ आता है । उसे देख सुभद्रांगी, राधागुप्त और विगताशोक खड़े हो जाते हैं ।]

विन्दुसार : (राधागुप्त को देख) अच्छा, मैं तुम्हें बुलाने वाला ही था । अच्छा हुआ तुम पहले से ही यहाँ उपस्थित हो ।

राधागुप्त : महादेवी ने मुझे बुलवाया था इसीलिए मैं आया था, श्रीमान् !

विन्दुसार : (शयन पर बैठते हुए) बैठो, सुभद्रांगी, बैठो, राधागुप्त, बैठो, वत्स ।

[सब लोग आसन्दियों पर बैठ जाते हैं ।]

विन्दुसार : (गला साफ करते हुए राधागुप्त से) राधागुप्त, कुछ दिनों से तुम्हारी और मेरी जो चर्चा चल रही थी उस संबंध में आज मैंने अंतिम निर्णय कर लिया ।

राधागुप्त : किस विषय पर, महाराज ?

बिन्दुसार : युवराज पद किसे दिया जाय, इस विषय पर।

राधागुप्त : मुझे विश्वास है श्रीमान् का निर्णय भारतीय साम्राज्य और मौर्यवंश दोनों के लिए हितकारी होगा।

बिन्दुसार : सो तो कहना कठिन है, परन्तु मैं समझता हूँ कि वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए जो निर्णय मैंने किया है वह उपयुक्त ही है। मैं अशोक को युवराज पद पर प्रतिष्ठित करता हूँ।

राधागुप्त : (उत्साह भरे स्वर में) सम्राट् का निर्णय सर्वथा समयानुकूल है और मुझे विश्वास है कि इस निर्णय का

भी डाला। परन्तु अशोक में शौर्य, पराक्रम, साहस सब कुछ होते हुए भी मुझे भय है कि मेरी मृत्यु के पश्चात् मौर्यवंश में गृह-कलह होकर रहेगा। राधागुप्त तुम्हारे ऊपर उसे सँभालने का बड़ा भारी उत्तरदायित्व है।

विगताशोक : पिता जी आप इस सम्बन्ध में तनिक भी चिंतित न हों; उस सारे गृह-कलह को समाप्त करने के लिए मैं अकेला ही यथेष्ट हूँ।

विन्दुसार : अशोक के अनुज विगताशोक से मुझे ऐसे ही शब्दों की आशा थी।

राधागुप्त : मैं श्रीमान् को आश्वासन देता हूँ कि यदि यह कलह हुआ भी तो उसका शमन अवश्य और त्वरित हो जायगा।

[नेपथ्य से गान की ध्वनि आती है। सबका ध्यान उस ओर आकर्षित होता है।]

सुभद्रांगी : निशा-प्रार्थना आरम्भ हो गयी। हम लोग खड़े न होंगे ?

[सब लोग खड़े हो जाते हैं। विन्दुसार खड़े हो शयन का सहारा लिये रहता है।]

गीत

जय शान्ति सखी ! रजनी !
राग द्वेष निद्रित कर मन के दे थपकी अपनी।
थकित मनुज की अलसित पलकें,
झुक पड़तीं छू तेरी अलकें,

श्रमित भ्रमित जगती पर फैला अंचल छाँह घनी ।
विकल हरिण सा मोह तरसता,
मरु अवनी में कहाँ सरसता,
ममता बरसा, तुहिन-शिशिर मय आँसू ओसकनी ।
तम मयि ! माया नगर निवासिनि !
चिर-रहस्य-मय, तारक हासिनि !
विश्व विमोहन मन्त्रोक्षण से कर तन्द्रिल अवनी ।

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र के राजभवन का सभा-आलय

समय : मध्याह्न

[काष्ठ के स्थान पर सभा-आलय पाषाण से निर्मित है। आलय की छत पाषाण के मोटे स्तम्भों पर है। हर स्तम्भ की कुम्भी (नीचे की चौकी) कमलाकार बनी हुई है। इस कुम्भी पर गोल स्तम्भ है। स्तम्भ के ऊपर के सिरे पर भरिणी (टोड़ी) है और इस भरिणी के चारों ओर गजशुण्डें हैं, जो ऊपर उठकर छत को स्पर्श किये हुए हैं। न्यायालय की भित्तियों और छत पर खुदाव का काम है। न्यायालय की भूमि पर रंग-विरंगी बिछावन है। पीछे की भित्ति के समीप एक पत्थर के चबूतरे पर स्वर्ण का सिंहासन है जिसके पाये सिंहाकार हैं। इस सिंहासन पर सुनहरी काम की गद्दी है और गद्दी पर तकिये। इस समय सिंहासन रिक्त है। सिंहासन के दोनों ओर दो युवतियाँ खड़ी हैं। ये कौशेय की साड़ी पहने हैं और उसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे हैं। स्वर्ण के आभूषण भी धारण किये हैं। एक युवती के हाथ में स्वर्ण के एक थाल में पूजा की सामग्री है और दूसरी युवती के हाथ में स्वर्ण के एक थाल में रत्न-जटित राजमुकुट। सिंहासन के कुछ आगे दाहनी ओर पत्थर के एक ऊँचे चबूतरे पर व्यासपीठ है। इस पीठ पर श्वेत

वस्त्र से ढकी गद्दी है, जिस पर तकिये लगे हैं। सिंहासन के दोनों ओर चबूतरे के नीचे स्वर्ण की कुछ आसन्दियां हैं। इन आसन्दियों पर श्वेत वस्त्र से ढकी हुई गद्दियां हैं, जिन पर तकिये हैं। सिंहासन के निकट की दाहनी ओर की आसन्दी पर महाधर्माध्यक्ष बैठा है। महाधर्माध्यक्ष की अवस्था सत्तर वर्ष से कम नहीं है। उसके सिर, भवें तथा मूंछों दाढ़ी के बाल श्वेत हो गये हैं। वह गौरवर्ण का ऊँचा-पूरा और मोटा व्यक्ति है। केशों की शुभ्रता के अतिरिक्त वृद्धावस्था के कोई चिह्न उसके शरीर पर नहीं हैं। वह सूती मोटे वस्त्र का उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये है। अंगों पर कोई भूषण नहीं है। सिर पर भस्म लगी हुई है। उसके निकट की दूसरी आसन्दी पर विगताशोक बैठा है। सिंहासन के निकट की बायीं ओर की आसन्दी पर राधागुप्त बैठा है। बायीं ओर की अन्य आसन्दियों पर महेन्द्र, संघमित्रा हैं। सिंहासन के सामने अर्धचन्द्राकार पंक्तियों में रजत की आसन्दियां हैं। आसन्दियों पर श्वेत वस्त्र से ढकी हुई गद्दियां हैं और गद्दियों पर तकिये। आसन्दियों का मुख सिंहासन की ओर है। इन आसन्दियों पर राजपुत्र, राष्ट्रीय, राजुक, युक्त और प्रतिष्ठित नागरिक आदि बैठे हुए हैं। आसन्दियों की पंक्तियों के बीच में से एक मार्ग है, जो सिंहासन तक चला गया है। सारा आलय मंगल कलशों, कदली के वृक्षों, पत्र-पुष्पों की वन्दनवारों से सजाया गया है। मंगल कलश मिट्टी के हैं। इन पर सुन्दर रंगीन बेल-बूटे हैं। इन पर पंचपल्लव हैं, जिनके ऊपर मिट्टी के सकोरों में धूप

जल रही है, जिसका मन्द-मन्द धूम उठ रहा है। थोड़ी ही देर में नेपथ्य में पंच महावाद्यों की ध्वनि सुन पड़ती है। इस ध्वनि को सुन आलय में बैठे हुए सब लोग खड़े हो जाते हैं। स्वर्ण की शिविका पर अशोक का प्रवेश। शिविका के आगे पंच महावाद्य वादक वाद्य बजाते चल रहे हैं। पाँचों कंचुक और अधोवस्त्र पहने तथा सिर पर उष्णीश बाँधे हैं। पाँचों स्वर्ण के आभूषण भी पहने हैं। वाद्य-वादकों के पीछे शिविका के आगे दो छड़ीदार चल रहे हैं। ये भी ऊपर के अंगों में कंचुक पहने हे और नीचे के अंगों में अधोवस्त्र। इनके सिर पर भी उष्णीश है। ये भी स्वर्ण के आभूषण धारण किये हैं। इनके दाहने हाथों में स्वर्ण की रत्न-जटित मोटी छड़ियाँ हैं। चार शिविका-वाहक शिविका को उठाये हुए हैं। ये चारों नीचे के अंग में अधोवस्त्र पहने हैं और शिविका उठाने के कारण इनके ऊपर के अंग खुले हुए हैं। इनके सिर पर भी उष्णीश है और अंगों पर स्वर्ण आभूषण हैं। शिविका खुली हुई है। शिविका के पीछे एक छत्र-वाहिका, दो चाँवर वाहिकाएँ और दो व्यजन-वाहिकाएँ हैं। सभी वाहिकाएँ तरुणियाँ हैं। वाहिकाएँ कौशेय की साड़ियाँ पहने हैं और वैसा ही वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे हैं। अंगों पर स्वर्ण के आभूषण धारण किये हैं। छत्र-वाहिका शिविका के पीछे बीच में चल रही है। वह स्वर्ण की रत्न-जटित डांडी वाला कौशेय वस्त्र का श्वेत छत्र अशोक पर लगाये है। इस छत्र में मोतियों की झालर है। छत्र-वाहिका के उभय ओर चाँवर वाहिकाएँ चल रही हैं। ये स्वर्ण की रत्न-जटित

महाधर्माध्यक्ष : याभिरद्भिरिन्द्रमभ्य सिञ्चत्
प्रजापतिः सोम राजानं वरुणं यमं मनुं
ताभिरद्भि सिञ्चामि त्वामहं
राज्ञां त्वमधिराजोभवेह ।

सभासद : (एक स्वर से) महाराजाधिराज, राजराजेश्वर, सम्राट
अशोकवर्धन की जय ! महाराजाधिराज, राजराजेश्वर
अमित्राघाट विंदुसार की जय ! महाराजाधिराज, राजराजे
श्वर, सम्राट चन्द्रगुप्त की जय ! आर्य चाणक्य की जय

अशोक : (सिंहासन से उठ व्यास-पीठ पर बैठकर) महाध
ध्यक्ष, महामत्य, राजपुत्रो, राष्ट्रीयगण, राजुको, यु
नागरिको तथा सभासद्गण ! पूज्यपाद अमित्राघाट पिता
जी के स्वर्गारोहण को चार वर्षों के एक युग से भी कुछ
अधिक व्यतीत हो गया । यद्यपि उन्होंने अपने जीवन-काल
में ही मुझे युवराज पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था और
इस संबंध में राजघोषणा भी हो गयी थी तथापि मौर्यवंश के
गृह-कलह के कारण गत चार वर्षों तक भारत में रक्तपात
होता रहा । आज के राजतिलक का यह समारोह यद्यपि
पूज्यपाद पिताजी के स्वर्गारोहण के पश्चात्, राजशोक के
समय के उपरांत, तुरन्त हो सकता था, परंतु मैंने यह उचित
न समझा कि पूज्यपाद पिताजी के स्वर्गारोहण के पश्चात्
राजशोक के समय में ही गृह-कलह के जो काण्ड आरम्भ
हो गये थे उनके शमन के पूर्व में यह समारोह कराता ।

सभासद : धन्य है ! धन्य है !

अशोक : मैंने यह उचित समझा कि पूज्यपाद पिताजी के मुझे युवराज-पद देने पर भी पहले इसी बात की परीक्षा हो जाय कि राज्यसिंहासन के योग्य कौन व्यक्ति है। इसी लिए जब तक गृह-कलह के शेष के अवशेष का भी अंश इस राज्य में कहीं भी रहा, मैंने आप लोगों की बार-बार इच्छा होने पर भी यह समारोह नहीं होने दिया।

सभासद : धन्य है ! धन्य है !

अशोक : भगवान् की कृपा और आप सबकी सद्भावना के कारण मैं इस आत्म-परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक अब समूचे भारतीय साम्राज्य में शान्ति है। अतः 'वीर भोग्या वसुन्धरा' की उक्ति के अनुसार जो राज्य-सिंहासन के योग्य था वही आज इस सिंहासन पर सिंहासनासीन हो सका है।

सभासद : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

अशोक : आर्य चाणक्य के शुभ प्रयत्नों से पितृव्य चन्द्रगुप्त ने इस पुण्य भूमि से विदेशियों का निष्कासन कर जिस साम्राज्य को स्थापित किया था, उस साम्राज्य का सारा राजकाज उन्हीं आदर्शों, उद्देश्यों और सिद्धान्तों के अनुसार चलेगा। भारतवर्ष के जो भाग अभी भी सा[illegible] के बाहर हैं वे साम्राज्य में सम्मिलित किये जावेंगे [illegible] वे स्वयं सम्मिलित होंगे तो मुझे अत्यधिक हर्ष हो[illegible] यदि वे स्वयं सम्मिलित न हुए तो बल प्र[illegible]

उन्हें सम्मिलित करने में मैं आगा-पीछा न करूँगा ।

सभासद : अवश्य, अवश्य ।

अशोक : यह इसलिए कि केवल भारत का ही नहीं पर समूचे जंबूद्वीप का भावी उत्कर्ष मैं भारतीय साम्राज्य की एकता पर मानता हूँ ।

सभासद : निस्संदेह, निस्संदेह ।

अशोक : इसी के साथ उत्तरापथ से दक्षिणापथ तक समूचे भारत में शान्ति की स्थापना रहेगी और उस शान्ति को भंग करने का यदि किसी ने प्रत्यक्ष में या परोक्ष में, जान में या अनजान में कोई प्रयत्न किया तो उसे मृत्यु-दण्ड से छोटा कोई दण्ड न दिया जायगा ।

सभासद : धन्य है ! धन्य है !

अशोक : इस अवसर पर एक घोषणा और कर दूँ, जिसे सारा संसार सुने । किसी भी विदेशी ने भारत पर यदि भूल से भी लालच भरी कोई कुदृष्टि उठायी, और इसकी मुझे विश्वसनीय सूचना मिली, तो भारत पर तो उसका आक्रमण दूर की बात होगी उस पर भारतीय आक्रमण तत्काल किया जायगा और वह मिट्टी में मिला दिया जायगा ।

सभासद : (उत्साह से) राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

अशोक : मेरे इन समस्त कार्यों में मुझे आप सबके सहयोग की वैसी ही आवश्यकता है जैसी गत चार वर्षों के एक युग मौर्यवंश के गृह-कलह को शमन करने में थी ।

एक सभासद : (अत्यन्त उत्साह से) सबका आपको सहयोग प्राप्त रहेगा।

सभासद : (एक साथ) अवश्य, अवश्य।

एक सभासद : भारतीय साम्राज्य के एक-एक बालक, युवक और वृद्ध का।

दूसरा सभासद : नर और नारियों सभी का।

सभासद : (एक साथ अत्यन्त उत्साह से) निस्संदेह।

सभासद : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय!

अशोक : इस भारतीय साम्राज्य के महामात्य आर्य राधागुप्त होंगे और इस शुभ अवसर पर मैं उन्हें एक नयी उपाधि से विभूषित करता हूँ, यह उपाधि है 'अग्रामात्य'!

साभसद : (उत्साह से) 'अग्रामात्य' आर्य राधागुप्त की जय!

[अशोक व्यासपीठ से उठकर पुनः सिंहासन पर बैठता है। बहुत देर तक उत्साह से जयघोष होता रहता है। अब नर्त्तकियाँ आती हैं, और नृत्य होता है। नर्त्तकियाँ युवतियाँ हैं। इनकी और वाहिकाओं की वेशभूषा में इतना ही अन्तर है कि इनके नीचे के अंग की साड़ियों में नृत्य के लिए अधिक घेर है और पैरों में घूँघरू हैं नृत्य के पश्चात् गान होता है।]

गीत

सृष्टि को घेरे बहु विध ताप।
नियति का अति निष्ठुर अभिशाप।
ताप से ग्रसित मनुज अवलोक,
नयन में नीर हृदय में शोक,

द्रवित उर में प्रतिबिम्बित क्रान्ति,
स्वर्ग से भू पर आयी शान्ति।
अहिंसा का पावन सन्देश,
बने भू पर तव, राज्यादेश।
भीत त्रसित दुर्बल संसार,
युगों तक मानेगा आभार।

यवनिका

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र के राजभवन के गर्भागार के
अवरोधन में असंधिमित्रा का कक्ष
समय : रात्रि

[यह कक्ष यद्यपि वैसा ही है तथा उसी प्रकार सजा है जैसे पहले अंक के पहले और दूसरे दृश्य का कक्ष था तथापि यह काष्ठ के स्थान में पत्थर का बना हुआ है। असंधिमित्रा एक शयन पर बैठी हुई तमूरा बजाकर गा रही है।]

गीत

कब जाना है उस ओर !
किस रहस्य से आवृत सजनी ! जीवन का वह छोर ?
विस्मृति में स्मृति का विकास,
अन्धकार में किरण-हास,
सिन्धु पार कर पहुँच बिन्दु पर पा जाऊँगी भोर।
आशा का उन्माद भग्न,
उदासीन आनन्द मग्न,
स्वप्नों की मोहक छलना में जाग्रति जगी हिलोर।

[गीत पूर्ण होते-होते कारुवाकी का प्रवेश। असंधिमित्रा में अब प्रौढ़ता आ गयी है। कानों के समीप कुछ बाल भी

श्वेत हो गये हैं। वेश-भूषा पहले के समान है। कारुवाकी लग-भग ३० वर्ष की अवस्था की युवती है। वर्ण गौर, मुख और शरीर के अवयव अत्यन्त सुन्दर। वह कौशेय वस्त्र की सुनहरी काम वाली साड़ी पहने है और इसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बांधे हैं। अंगों में रत्न-जटित आभूषण हैं।]

कारुवाकी : जीजी, शरीर और मन की प्रौढ़ता के साथ ही आपके स्वर और गान के विषय में भी प्रौढ़ता आ चली है। **(शयन के निकट की आसन्दी पर बैठती है।)**

असंधिमित्रा : (मुस्कराकर) यह अच्छी बात है या बुरी ?

कारुवाकी : **(कुछ विचारते हुए)** यह कहना तो कठिन है, परन्तु इस सृष्टि के नियमों के अनुसार बाल्यावस्था, तरुणाई, प्रौढ़ता और वृद्धावस्था ये सब अवश्यम्भावी हैं।

असंधिमित्रा : और यदि तरुणाई में ही किसी का मन प्रौढ़ होने लगे तो ?

कारुवाकी : तो वह उतनी ही बुरी बात होगी जितनी प्रौढ़ावस्था में मन की तरुणाई।

[दोनों जोर से हँस पड़ती हैं]

कारुवाकी : जीजी, मैं सुना करती थी कि सौतों के सम्बन्ध बड़े संतापकारी होते हैं और यदि एक सौत प्रौढ़ हो और दूसरी युवती तब तो वह प्रौढ़ा युवती के जीवन को नरकवत् बना देती है। परन्तु यहाँ तो बात ही उलटी हुई। मैंने आप से जैसा स्नेह पाया वैसा तो माता से भी न मिला था।

असंधिमित्रा : कह नहीं सकती तुम्हारे इस कथन में कितनी

अतिशयोक्ति है। परन्तु सौतों का सम्बन्ध संतापकारी क्यों होना चाहिए यह मेरी समझ में नहीं आता।

कारुवाकी : इसलिए कि सौत पति के प्रेम में साझेदार होती है।

असंधिमित्रा : पर सच्चे स्नेह का स्वरूप तो संकीर्ण न होकर व्यापक है। वह तो समस्त सृष्टि पर फैलाया जा सकता है। और यदि सृष्टि की अनन्त वस्तुएँ स्नेह के संसार में साझेदार रह सकती हैं तो सौतें क्यों नहीं?

कारुवाकी : परन्तु, जीजी, प्रणय के सच्चे रूप को पहचानने की शक्ति होनी चाहिए और उसी के साथ उदारता।

असंधिमित्रा : फिर एक बात और देखो; पुरुषों के लिए बहु-पत्नियाँ कदाचित् स्वाभाविक बात है।

कारुवाकी : यह तो आप नहीं कह सकतीं।

असंधिमित्रा : क्यों?

कारुवाकी : इसलिए कि फिर द्रौपदी के लिए क्या कहेंगी?

[दोनों का अट्टहास।]

कारुवाकी : सुनती हूँ, पहले विवाह-संस्था ही नहीं थी?

असंधिमित्रा : यह सत्य है। महाभारत में ही उद्दालक और श्वेतकेतु का एक उपाख्यान है, जिससे यही बात सिद्ध होती है।

कारुवाकी : फिर गणविवाह निकले।

असंधिमित्रा : इसे भी विद्वान् स्वीकार करते हैं।

कारुवाकी : इसके पश्चात् एक नारी के अनेक पति।

असंधिमित्रा : यह भी ठीक है।

कारुवाकी : और फिर एक पति की अनेक पत्नियाँ।

असंधिमित्रा : आजकल की सामाजिक अवस्था में एक पति की अनेक पत्नियाँ ही स्वाभाविक माना जाता है।

कारुवाकी : मेरे प्रति तो आपका अगाध प्रेम है, पर अधिकतर ऐसा नहीं होता और फिर सौतेले भाइयों में कैसे संघर्ष होते हैं, यह हम मगध में ही देख चुके हैं।

असंधिमित्रा : ये संघर्ष तो सौतेले भाइयों में ही न होकर एक माँ के जाये हुए भाइयों में भी होते हैं। संस्कृत साहित्य में कुछ स्वाभाविक मित्र माने गये हैं और कुछ स्वाभाविक शत्रु। भाइयों की गणना स्वाभाविक शत्रुओं में की गयी है।

कारुवाकी : पर, महेन्द्र, कुणाल और तीवर के बीच सौतेले होने पर भी कितना अधिक स्नेह है। यह कदाचित् उसी प्रकार जैसे सौतें होने पर भी आपका और मेरा प्रेम!

[अशोक का प्रवेश। उसके चेहरे से भी जान पड़ता है कि वह भी अब प्रौढ़ हो चला है। उसके कानों के समीप के केश भी श्वेत हो गये हैं। उसकी मुद्रा से ज्ञात होता है कि वह अनमना-सा है। उसे देख असंधिमित्रा और कारुवाकी खड़ी हो जाती हैं। अशोक शयन पर बैठता है। उसके निकट असंधिमित्रा बैठती है और शयन के निकट की एक आसंदी पर कारुवाकी। अशोक सिर झुकाये हुए कुछ सोचता रहता है। असंधिमित्रा और कारुवाकी उसकी ओर देखती रहती हैं। कुछ देर निस्तब्धता।]

असंधिमित्रा : आजकल कुछ अनमने-से रहते हो, क्यों ?

फाख्याकी : कुछ नहीं, बहुत ।

अशोक : नहीं, अनमना तो नहीं रहता; पर कुछ सोच-विचार में अवश्य रहता ।

असंधिमित्रा : तुम्हारी तो अब एक नहीं, दो-दो अर्धांगिनी हैं अर्थात् आधे अंग में तुम और एक-एक चौथाई अंग में, हम दोनों ।

[सब का अट्टहास ।]

अशोक : (हँसते हुए) गणित की गणना के अनुसार तो तुमने ठीक कहा, देवि ।

असंधिमित्रा : प्रयत्न तो मैं यही करती रहती हूँ कि कोई असंगत बात न कहूँ ।

फाख्याकी : आपके मुख से कभी कोई असंगत बात निकल सकती है !

असंधिमित्रा : मैं कह यह रही थी कि हम तुम्हारी अर्धांगिनियाँ तुम्हारे इस सोच-विचार में क्या सहभागिनी नहीं हो सकतीं ?

संधिमित्रा : राज्याभिषेक के चौथे वर्ष से ही सद्धम्म के प्रति तुम्हारा आकर्षण हो गया था, वरन् तुम सद्धम्म की 'उपासक' श्रेणी में भी आ गये थे। भारत के प्रमुख स्थानों में चौरासी हज़ार विहार भी बनाने का निश्चय अधिकांश स्थानों में कार्य रूप में परिणत हो गया है। पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध अशोकाराम की चहल-पहल तो समस्त देश में विख्यात है, पर अब कदाचित् स्वयं भी तुम सम्राट् से भिक्षु होना चाहते हो ?

अशोक : भिक्षु होना चाहता तो हो न जाता ! जीवन में जब जो चाहा वही तो किया है मैंने, प्रिये। किस कृति के लिए कौन रोक सका मुझको ? मैं अब क्या चाहता हूँ इस सम्बन्ध में मैं स्वयं ही अपने को नहीं समझ पा रहा हूँ। पर इतना स्पष्ट है कि राज्याभिषेक के पूर्व कर्त्तव्य-पथ के सम्बन्ध में मेरी भावनाएँ जितनी स्पष्ट थीं अब नहीं हैं। फिर जो तुमने यह कहा कि राज्याभिषेक के चौथे वर्ष से मेरे मन में परिवर्तन हुआ है यह भी नहीं है।

असंधिमित्रा : तब ?

अशोक : वह राज्याभिषेक के दिन नर्त्तकियों के गान के समय से ही हुआ; हाँ, उसके दर्शन राज्याभिषेक के चौथे वर्ष से हुए। और अब तो मानसिक संघर्ष बढ़ता ही जाता है। तुम लोगों को जो मैं अनमना जान पड़ता हूँ वह इसी मानसिक संघर्ष के कारण। मेरे मन में अब बार-बार एक बात आती है।

असंधिमित्रा : कौनसी ?

अशोक : इस जीवन का कोई ठिकाना नहीं और जीवन सफल हुआ या असफल इसका निर्णय जीवन का अन्तिम क्षण करता है। उसी क्षण पर सब कुछ निर्भर रहता है। वही क्षण या तो हमें तारता है या गर्त्त में गिराता है। वह क्षण तारने वाला क्षण हो यही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। और जीवन में इस लक्ष्य तक पहुँचने का जब तक सतत प्रयत्न न हो तब तक वह क्षण तारने वाला क्षण नहीं हो सकता। आजकल मेरा जीवन जिस ढंग से चल रहा है, उससे मुझे जान पड़ता है कि वह अन्तिम क्षण तारने वाला क्षण हो इस ओर मेरा जीवन नहीं जा रहा है।

[नेपथ्य से एक गान की ध्वनि आती है, सब लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित होता है।]

गीत

जगत को छोड़ चलो उस ओर।
तम की निशा उदय में अवसित, शान्ति गगन में भोर।
महामोह-श्रम-थकित जगत यह, खोज रहा विश्रान्ति ;
अन्धकार में भूल भटकती, मानस की विभ्रान्ति ;
युग युग बीत चले इस पथ का मिला न कोई छोर।
मानव-मन की आर्त्त हेर सुन द्रुत दौड़े भगवान ;
करुणा-द्रवित-हृदय से उद्गत अमर शान्ति आह्वान ;
शीतल करते दाह दुःखमय पीड़ा जग की घोर।

अशोक : (गीत पूर्ण होने पर) महेन्द्र और संघमित्रा का स्वर

जान पड़ता है ।

असंधिमित्रा : हाँ, महेन्द्र और संघमित्रा ही आ रहे थे ।

अशोक : राज्य के प्रति बहुत आकर्षित हो गये जान पड़ते हैं।

असंधिमित्रा : क्या पूछते हो, तुम्हारे मन में तो हिंसा से राज्य-विस्तार, आमोद-प्रमोद, विहार-यात्राएँ आदि ठीक हैं या अहिंसात्मक मध्यम ग्रहण करना, यह मानसिक संघर्ष ही चल रहा है, पर ये दोनों भाई-बहन तो कदाचित् भिक्षु-भिक्षुणी होने ही वाले हैं ।

कारुवाकी : जीजी बिलकुल ठीक कह रही हैं ।

[महेन्द्र और संघमित्रा का भिक्षु-भिक्षुणी के वेष में प्रवेश । महेन्द्र की अवस्था अब २० वर्ष की है और संघमित्रा की १८ वर्ष की । दोनों इस वेष में भी अत्यन्त सुन्दर दीख पड़ते हैं । उन्हें भिक्षु-भिक्षुणी के वेष में देख अशोक, असंधिमित्रा और कारुवाकी स्तब्ध-से रह जाते हैं ।]

महेन्द्र : (अशोक से) पिताजी, दोनों माताओं से और आपसे हम विदा लेने आये हैं ।

संघमित्रा : हाँ, पिताजी, हमें विदा कीजिए ।

[किसी के मुख से कोई उत्तर नहीं निकलता । कुछ देर निस्तब्धता ।]

अशोक : (धीरे-धीरे) पर, यदि राजवंश में किसी को भिक्षु ही होना था तो मुझे, और भिक्षुणी ही होना था तो तुम्हारी माता असंधिमित्रा को । महेन्द्र, तुम मगध के युवराज हो, इस अवस्था में तुम्हारी यह वेषभूषा और संघमित्रा तुम

भी भाई के साथ भिक्षुणी !

असंधिमित्रा : सद्धम्म के प्रति इन दोनों का आकर्षण होता जाता था, यह मैं जानती थी, नाथ, और मुझे भय भी था इनके भिक्षु-भिक्षुणी होने का। परन्तु यह इतने शीघ्र हो जायँगे, यह मैं··· **(कण्ठावरोध होने के कारण चुप हो जाती है।)**

कारुवाकी : यह अनर्थ, घोर अनर्थ !

[कुछ देर निस्तब्धता]

अशोक : **(कुछ विचारते हुए)** महेन्द्र, दस वर्ष पूर्व जब हम अवन्तिका में थे और तुम अपनी ग्यारहवीं वर्षगाँठ के दिन अपनी माता को और मुझे प्रणाम करने आये थे उस समय की एक बात तुम्हें स्मरण है ?

महेन्द्र : **(एक आसन्दी पर बैठते हुए)** कौनसी बात, पिताजी ? यदि आप उस बात का विषय बता दें, तो कदाचित् स्मरण हो आए।

अशोक : संघमित्रा ने कहा था, तुमने अपने उस जन्म-दिन सौगन्ध खायी थी कि तुम पितृव्य चन्द्रगुप्त से भी बड़े चक्रवर्ती सम्राट् होगे, इसके लिए यदि तुम्हें रुधिर की सरिताएँ बहानी पड़ेंगी तो उन्हें भी बहाओगे, तुम्हारी वीरता से रिपुओं के दल उसी प्रकार तितर-बितर हो जावेंगे जैसे रवि-रश्मियों से कुहरा। अपने पराक्रम से तुम हिमाद्रि के शृंगों को भी कँपाओगे, उदधि की ऊर्मियों को भी रोक दोगे।

असंधिमित्रा : और जिस प्रकार पितृव्य चन्द्रगुप्त ने यवन राजकुमारी हेलन से परिणय किया था उसी प्रकार केवल यवन राजकुमारी से ही नहीं पर जितनी भी अरिगणों की मनोहर राजकुमारियाँ मिलेंगी उन सबसे परिणय करोगे ।

महेन्द्र : हाँ, स्मरण आ गया, पर वह बाल-विनोद था ।

संघमित्रा : **(एक आसन्दी पर बैठते हुए)** मैंने भी बाल-विनोद में ही आप लोगों से इनकी सौगन्ध की बातें कही थीं ।

अशोक : (विचारते हुए) और तुम समझते हो कि अब तुम दोनों जो कुछ कर रहे हो वह परिपक्व विचारों के अनुसार ?

महेन्द्र : इसमें मुझे थोड़ा भी सन्देह नहीं है ।

संघमित्रा : थोड़ा भी नहीं ।

असंधिमित्रा : यह अवस्था और परिपक्व विचार !

फारुबाकी : मैं तुम दोनों से अवस्था में कहीं बड़ी हूँ, परन्तु मैं भी यह नहीं मानती कि इस अवस्था में मेरे विचार परिपक्व हो सकते हैं ।

अशोक : महेन्द्र और संघमित्रा, अभी तुम्हारे आने के पहले मैं तुम्हारी माताओं से कह रहा था कि मेरे मन में आजकल संघर्ष चल रहा है कि हिंसा से राज्य-विस्तार, आमोद-प्रमोद, विहार-यात्राएँ आदि ठीक हैं या अहिंसात्मक सद्धम्म ग्रहण करना । मैं स्वयं किसी निर्णय पर पहुँचने में असमर्थ हूँ और तुम दोनों भिक्षु-भिक्षुणी होकर आगये ।

महेन्द्र : पिताजी, मुझसे भी कम अवस्था के व्यक्ति भिक्षु हुए हैं।

संघमित्रा : और मुझसे भी कम अवस्था की ललनाएँ भिक्षुणी।

असंधिमित्रा : इस प्रकार भिक्षु-भिक्षुणी होना कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है।

कारुवाकी : अवश्य।

अशोक : तुम्हारी माताएँ सर्वथा ठीक कहती हैं।

महेन्द्र : परन्तु, सद्धम्म में भिक्षु-भिक्षुणी होने के लिए आयु का कोई प्रतिवन्ध नहीं है।

संघमित्रा : यदि युवावस्था में भिक्षु-भिक्षुणी होना वर्जित माना जाता तो क्या भगवान् तथागत् भिक्षु-भिक्षुणी होने के लिए आयु का प्रतिबन्ध न कर देते।

[कुणाल का प्रवेश। कुणाल लगभग पाँच वर्ष का गौर वर्ण का अत्यन्त सुन्दर बालक है। उसकी आँखों में एक अद्भुत प्रकार का सौन्दर्य है। वह सुनहरी काम के कौशेय वस्त्र का कञ्चुक पहने है जो उसकी पिण्डलियों तक लम्बा है। उसके अंगों पर रत्न-जटित आभूषण हैं। सिर खुला हुआ है। उस पर काले बाल लहरा रहे हैं।]

कुणाल : **(महेन्द्र को ध्यान से देखते हुए)** दादा, तुम्हारे बाल कहाँ गये? **(उसी प्रकार ध्यान से संघमित्रा को देखते हुए)** और जीजी तुम भी मुण्डी हो गयीं? कैसे कपड़े पहने हो

दोनों ही, अशोकाराम के भिक्खु-भिक्खुणियों के से ।

(अशोक की गोद में बैठता है ।)

[तीवर का प्रवेश । वह कुणाल से भी एकाध वर्ष छोटा जान पड़ता है । तीवर भी सुन्दर है परन्तु कुणाल का और उसका कोई मिलान नहीं हो सकता । उसकी वेश-भषा कुणाल के ही सदृश है । कुणाल तीवर को देखकर अशोक की गोद से उतर दौड़कर तीवर के पास जाता है ।]

कुणाल : (दाहिने हाथ की तर्जनी से महेन्द्र और संघमित्रा की ओर संकेत कर) तीवर, पहचानों तो इन दोनों को ।

तीवर : (महेन्द्र और संघमित्रा को घूरते हुए) दादा और जीजी ही हैं न !

कुणाल : मुझे तो इन्हें देखकर डर लगता है ।

[दोनों आकर कुणाल अशोक की गोद में और तीवर असंधिमित्रा की गोद में वैठ जाते हैं]

महेन्द्र : (हाथ फैलाकर कुणाल से) आओ, इधर आओ, कुणाल ।

संघमित्रा : (हाथ फैलाकर तीवर से) और तू इधर आ, तीवर ।

कुणाल : नहीं, नहीं । मैं न आऊँगा । पहले तुम फिर से अपने वाल वढ़ालो, मेरे जैसे कपड़े पहन लो तब आऊँगा ।

[तीवर कुछ बोलता तो नहीं है पर संघमित्रा के पास नहीं जाता ।]

अशोक : (करुण स्वर में) ओह !

[असंधिमित्रा और कारुवाकी के नेत्रों से टपाटप आँसू गिरते हैं ।]

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र के बाहर एक विशाल उद्यान का एक भाग

समय : मध्याह्न के निकट

[उद्यान का कुछ भाग दिखायी देता है। पीछे की ओर उद्यान के कोट की ऊँची भित्ति है। उसके निकट बकुल के ऊँचे वृक्षों की पंक्ति है। वृक्ष इतने ऊँचे और घने हैं कि वृक्षों के बीच-बीच से ही कहीं-कहीं भित्ति दिखायी पड़ती है। इधर-उधर आम के वृक्षों की अनेक कुञ्जें हैं। आम के वृक्षों की शाखाएँ गोल हो होकर भूमि तक पहुँच गयी हैं। आम्र-वृक्ष मौरों से लदे हुए हैं। इन ऊँचे वृक्षों के अतिरिक्त पुष्पों की अनेक क्यारियाँ दिखायी पड़ती हैं, जिनमें चैती, गुलाब और गेंदा खूब फूला हुआ है। बीच में एक अष्टदल कमल के आकार का बड़ा भारी कुण्ड है, जिसमें कमल खिले हैं। इस कुण्ड के जल में टेसू के फूलों का पीतरंग घोला गया है। आम के मौरों, खिले हुए गुलाब, गेंदे और कमलों के कारण उद्यान में वसंत के वैभव का प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है। उद्यान नर-नारी, बालकों आदि से भरा हुआ है। ये सभी वसंती रंग के कपड़े पहने हैं। कुण्ड के निकट ही एक बहुत बड़ा नर-नारियों का समूह अनेक मृदंग, ढप और झाँझें बजाते हुए होली गा रहा है। इधर-उधर कुछ लोग पिचकारियों में कुण्ड से रंग भर पिचकारियाँ चला रहे हैं और कुछ गुलाल उड़ा रहे हैं।]

गीत

कुसुमित जग अंग-अंग नव विकास छाया।
सौरभ, मकरन्द-मदिर, मलय पवन लाया।
कलिका की हृदय ग्रन्थि खोल सुरभि डोली।
पिक की पञ्चम-पुकार बोल उठी होली।
कुम-कुम, केसर फुहार, लख, गुलाल झोली।
सस्मित, सोत्कम्प खिली, पुलक, प्रकृति भोली।
मध्यम में मुरज थाप, वीन मधुर बोली।
राग में अनुराग मुखर, गुंजित अलि-टोली।

[गीत पूर्ण होते-होते अशोक, असंधिमित्रा, कारुवाकी, विगताशोक, कुणाल, तीवर, राधागुप्त, अनेक राजपुत्रों, राजुकों, युक्तों आदि के साथ आता है। यह समुदाय भी वसंती रंग के वस्त्र पहने है। इनके आभूषण आज जड़ाऊ न होकर स्वर्ण के हैं। इनके आने पर जोर का जयघोष होता है। उद्यान का सारा जनसमुदाय दौड़कर इनके चारों ओर इकट्ठा हो जाता है। जोर की पिचकारियाँ और गुलाल की फेंटें चलती हैं। सभी आगन्तुक रंग से सराबोर हो जाते हैं। गुलाल से सारे वायुमण्डल में लाल कुहरा-सा छा जाता है। थोड़ी देर में सब लोग बैठते हैं।]

अशोक : तो इस वर्ष भी आपने होली की इस विहार यात्रा में खूब आनन्द मनाया।

एक व्यक्ति : महाराज के राज्य में किस बात की कमी है !

सारा जनसमुदाय : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

अशोक : (गाने वाले समुदाय से) हाँ, एक धमार और हो जाय।

कुछ व्यक्ति : (एक साथ) जैसी आज्ञा।

[फिर से मृदंग, ढप और झाँझें बजकर गान आरम्भ होता है।]

गीत

री ! मंजरि ! निज उर बन्धन खोल,
नव-मकरन्द भेंट कर अलि को जीवन में मध घोल।
सरस गात्र में मादकता मृदु, नयनों में आह्वान,
शिशुता दूर गयी अब, सजनी ! फिर भी तू अनजान।
परिमल-सुरभित, पल्लव अञ्चल छूता मलय समीर ;
राग रंग लख चौंक चकित सा मानस मुग्ध अधीर,
उन्मद-मधु-माधव की उड़ती कुम-कुम, केसर, रोली।
अवनी से अम्बर तक छायी, लाल लाल सखि ! होली।

[गान पूर्ण होते-होते नेपथ्य में घण्टा बजता है। सबका ध्यान नेपथ्य की ओर आकर्षित होता है।]

राधागुप्त : मध्याह्न के भोजन का घण्टा है।

[जनसमुदाय धीरे-धीरे जाता है। अशोक जिस समुदाय के साथ आया है वह समुदाय तथा कुछ और लोग रह जाते हैं।]

अशोक : (दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए राधागुप्त से) अग्रामात्य, होली की इस आनन्दमयी विहार यात्रा में मध्याह्न के भोजन के लिए कितने जीवों का वध हुआ होगा ?

राधागुप्त : गिनती तो कठिन है, श्रीमान्, परन्तु नित्य ही जब साठ हजार ब्राह्मणों और श्रवणों को राजभवन से मांस दिया जाता है तब होली की इस विहार यात्रा में तो ब्राह्मणों और श्रवणों के अतिरिक्त भी सहस्रों वरन् लक्षों नागरिक एकत्रित हुए हैं।

अशोक : मानवों की विहार यात्रा, मानवों की क्रीड़ा, और इसके लिए अन्य जीवों का यह संहार ! (कुछ रुककर) ब्राह्मणों और श्रवणों का नित्य का भोजन और इन विहार यात्राओं का भोजन क्या निरामिष नहीं हो सकता ?

राधागुप्त : परम्परा तो इसी प्रकार की चली आ रही है।

असंधिमित्रा : बुरी परिपाटी में भी परिवर्तन नहीं हो सकता ?

कारुवाकी : मैं तो समझती हूँ अवश्य हो सकता है। क्यों, अग्रामात्य ?

राधा ुप्त : क्या कहूँ ?

अशोक : और अब तो शीघ्र ही कलिंग पर भी मगध-सेना का आक्रमण होने वाला है। उसमें मानव-संहार भी होगा।

राधागुप्त : आपने राज्याभिषेक के दिन कहा ही था कि भारत के जो भाग अभी भी साम्राज्य के बाहर हैं, वे साम्राज्य में मिलाये जायँगे। यदि वे स्वयं सम्मिलित हुए तो आपको हर्ष होगा, पर यदि वे स्वयं न मिले तो बल-प्रयोग करके भी आप उन्हें सम्मिलित करेंगे, क्योंकि भारत ही नहीं पर समस्त जम्बूद्वीप का उत्कर्ष आप भारतीय साम्राज्य की एकता पर मानते हैं।

अशोक : हाँ, मुझे स्मरण है अपनी राज्याभिषेक की उस घोषणा का। कलिंग पर आक्रमण मेरी उसी घोषणा के अनुसार मेरी अनुमति से ही हो रहा है। पर अब मेरे मन में सन्देह होने लगा है कि मेरी वह घोषणा तथा उस घोषणा के आधार पर ये आक्रमण एवं नित्यप्रति ब्राह्मणों और श्रवणों के तथा इन विहार यात्राओं के भोजनों में यह हिंसा कहाँ तक उचित है।

[नेपथ्य में फिर गान की ध्वनि सुन पड़ती है। सबका ध्यान नेपथ्य की ओर जाता है।]

गीत

रसने ! रस की कर पहचान।
षट्-रस-मय व्यञ्जन भोजन का यह नवीन विज्ञान।
अज, मयूर, मृग मांस सुगन्धित वर्धित करता ओज।
तन की पुष्टि, हृष्टि मानस की करता आमिष भोज।
देव सु दुर्लभ स्वादु खाद्य यह गुण रस सौख्य निधान।

अशोक : **(गीत पूर्ण होते-होते)** लीजिए, भिन्न-भिन्न जीवों के मांस के सुस्वाद पर भी काव्य रचना हो गयी! कहाँ होली के उन गीतों का मधुर रस और कहाँ इस गीत से उत्पन्न वीभत्स रस !

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान : कलिंग देश में रण-क्षेत्र

समय : सन्ध्या

[क्षितिज से लगा हुआ मैदान दीखता है। पश्चिम में सूर्यास्त हो रहा है, यह क्षितिज के निकट आकाश की लालिमा से ज्ञात होता है। मैदान में हाथियों, घोड़ों और मानवों के कटे हुए अंग, रथों के टूटे हुए भाग आदि फैले हुए हैं। घायल सैनिक भी पड़े हैं।* घोर युद्ध हो रहा है। मगध और कलिंग के पदाति सेना के सैनिक युद्ध कर रहे हैं। सैनिक दो पक्षों के हैं, यह उनके पृथक्-पृथक् रंग के वस्त्रों से ज्ञात होता है। सभी सैनिक वक्षस्थल पर कवच और सिर पर शिरस्त्राण धारण किये हैं। बाण, शल्य और खड्ग चल रहे हैं। हाथियों की चिग्घाड़ों, घोड़ों की हिनहिनाहट, सैनिकों के रणघोष और घायलों के आर्तनाद से सारा वायुमण्डल व्याप्त है। कुछ देर पश्चात् एक ओर से कुछ सैनिकों के साथ अशोक और दूसरी ओर से कुछ सैनिकों के संग कलिंग नरेश का प्रवेश। अशोक, कलिंग नरेश और दोनों पक्षों के योद्धा कवच और शिरस्त्राण

---

*यहाँ एक सफेद चादर डालकर हाथियों, घोड़ों, रथों आदि के युद्ध का दृश्य सिनेमा द्वारा दिखाया जा सकता है।

धारण किये हैं। अशोक तथा कलिंग नरेश के कवच और शिर-स्त्राण के लोह पर सुवर्ण लगा है। दोनों दलों में भीषण रण होता है। धीरे-धीरे कलिंग सेना परास्त होती है और कलिंग नरेश अशोक के सामने शस्त्र डालता है। युद्ध वन्द होता है।]

कलिंग नरेश : मगधपति, मैं पराजय स्वीकार करता हूँ, पर युद्ध करके मैंने कोई भूल की है, यह मुझे स्वीकृत नहीं है।

अशोक : तुम पराजय स्वीकार करते हो यही यथेष्ट है। किसने भूल की है और किसने सही वात, यह विवाद निरर्थक है।

कलिंग नरेश : पराजित व्यक्ति विवाद का अधिकारी नहीं होता अतः मैं आपसे विवाद नहीं करना चाहता, पर इतना कहे विना मुझ से नहीं रहा जाता कि यदि देश-भक्ति, स्वाधीनता-प्रेम और अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए सव कुछ न्यौछावर करने का साहस प्रशंसनीय है तो मैंने भी कोई भूल नहीं की। जव तक कलिंग में थोड़ी भी शक्ति थी, सामर्थ्य थी, तव तक उसने आपकी महान् और असीम वलशाली सेना की भी परवाह न कर वीरोचित रीति से आपका सामना किया। छोटे से कलिंग देश के लिए, अपनी स्वाधीनता की रक्षा के हेतु, मगध सम्राट् का इस प्रकार सामना अत्यन्त गौरव का विषय है। इस छोटे से कलिंग ने स्वाधीनता के इस महान् यज्ञ में सहस्रों नहीं, लाखों वीर पुत्रों की आहुति दी है। उसका परास्त होना एक स्वाभाविक वात थी। हमने घुटने टेके पर सव कुछ कर चुकने के पश्चात्। स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में

कलिंग का यह युद्ध मानव इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रक्खेगा। कलिंग की स्वाधीनता का जो अपहरण हुआ है और इस काण्ड में जो मानव-संहार, इसका दोषी कौन है यह इतिहासज्ञों का विषय होगा।

यवनिका

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र के राजभवन के गर्भागार में अशोक का कक्ष

समय : रात्रि का तीसरा पहर

[कक्ष लगभग वैसा ही है, जैसा दूसरे अंक के पहले दृश्य का कक्ष था। शैय्या पर अशोक लेटा हुआ है। शैय्या के उभय ओर असंधिमित्रा और कारुवाकी आसन्दियों पर बैठी हुई एक गीत गा रही हैं।]

गीत

दिवस का श्रम मौन निद्रा लीन।
पलक-पुट में अचल वन्दी चपल-लोचन-मीन।
ज्वलित दीपक लालसा का मन्द कर री ! क्लान्ति।
शिथिल-कर-उपधान-आश्रय, दे अलस विश्रान्ति।
कामना का कमल मुद्रित मुग्ध मायाधीन।
यामिनी के श्याम पट में स्वप्न का संभार।
चेतना, उन्निद्र झुक-झुक, झाँकती उस पार।
चाँद की कोमल कला भी झींमती सी क्षीण।

[गीत पूर्ण होने पर अशोक उठकर बैठ जाता है।]

अशोक : नहीं, नहीं आयगी नींद चाहे तुम लोग कितना ही प्रयत्न करो। बुलाओ तो अग्रामात्य को !

असंधिमित्रा : पर रात्रि का तीसरा प्रहर होगा, नाथ ! इस समय तुम अग्रामात्य को बुलाना चाहते हो ?

अशोक : हाँ, अभी तत्काल बुलाना चाहता हूँ। मैंने कुछ निर्णय किये हैं और उन्हें तत्काल कार्यरूप में परिणत करना है।

कारुवाकी : जैसी आपकी इच्छा, मैं अभी प्रतिहारी को भेजती हूँ।

[कारुवाकी का प्रस्थान । अशोक एक दीर्घ निःश्वास छोड़ता है ।]

असंधिमित्रा : तुम्हारी तो विचित्र दशा हो गयी है। न कुछ खाते हो और न सोते, इस प्रकार कैसे काम चलेगा ?

[कारुवाकी का प्रवेश । वह फिर आसन्दी पर बैठ जाती है ।]

अशोक : मैं स्वयं मानता हूँ, इस प्रकार काम नहीं चल सकता।

असंधिमित्रा : तब ?

अशोक : तब क्या किया जाय, देवि, यही तो निर्णय करना है। इसीलिए रात्रि के इस प्रहर में भी मैंने अग्रामात्य को बुलाया है। (कुछ रुककर) सुनो, तुम दोनों सुनो ! कलिंग के युद्ध में जो कुछ हुआ है वह मुझे पलमात्र को भी चैन नहीं लेने देता। आहत सैनिकों के शव मेरे नेत्रों के सामने घूमते रहते हैं, क्षण मात्र को भी दृष्टि से ओझल नहीं होते। घायलों का आर्त्तनाद मेरे कानों में गूँजता रहता है, एक निमिष मात्र को भी वह स्वर बन्द नहीं होता ! और···और मृतकों की संख्या थोड़ी नहीं थी, कलिंग के सैनिकों में ही वह पहुँची थी एक लक्ष के ऊपर। घायलों

की संख्या इससे कई गुनी अधिक थी । डेढ़ लक्ष के ऊपर कलिंग सैनिक कैद करके दास बनाये गये थे। न जाने कितने पुरों और ग्रामों में अग्नि लगी थी और वहाँ न जाने कितना जनसमुदाय भस्म हुआ और जला था । फिर इन मृतकों ने अपने कुटुम्बियों विशेपकर अपनी पत्नियों और माताओं को मृतकों से अधिक मृतक बना दिया था । उनका विलाप कानों के परदे फाड़ता था ; वह असहनीय, सर्वथा असहनीय था । कलिंग देश की इन सहस्रों, लाखों वहनों के माँग के सिंदूर, ललाट की टिकली, नाक की नथनी, ग्रीवा का मंगलसूत्र, हाथ की चूड़ियें, हथेली की मेंहदी, पैर की महावर और पैर को उँगलियों की विछिया समस्त सुहाग चिन्हों को मैंने मिटाया है। कितनी माताओं को मैंने पुत्रहीन बनाया है। चाहे कितनी और कैसी ही वीर-गाथाओं की रचना की जाय, परन्तु कम-से-कम माता की समझ में यह बात बैठ ही नहीं सकती कि इस प्रकार के युद्धों में कटने और मर मिटने के लिए उन्हें पुत्रों की उत्पत्ति क्यों करनी चाहिए। इन मृतकों के बच्चे अनाथ, सुना, अनाथ, नहीं नहीं, भूखे-प्यासे कुत्ते-विल्लियों के सदृश विलविलाते फिरते थे । रणभूमि का दृश्य ही भयानक और वीभत्स न था पर कलिंग के पुरों और ग्रामों के, जहाँ युद्ध न हुआ था, वहाँ के, दृश्य तो रणभूमि से भी कहीं अधिक भयानक और वीभत्स थे । फिर हमारी मगध सेना में जो लक्षों मरे और घायल हुए वे इनसे पृथक् हैं ।

असंधिमित्रा : कलिंग-युद्ध के पश्चात् कितनी बार तुम यह वर्णन कर चुके हो ।

कारुवाकी : हाँ, कितनी बार ।

अशोक : इसलिए, कि कलिंग-युद्ध के पश्चात् उस भीषण नर-संहार के विकराल दृश्यों के अतिरिक्त मुझे और कुछ दिखायी ही नहीं देता । उस कारुणिक हृदय को हिला देने वाले आर्त्त-नाद के अतिरिक्त और कुछ सुनायी नहीं देता । हम दूसरों के दुःखों की नींव पर अपने सुख के भवन का निर्माण नहीं कर सकते । इस युद्ध में न जाने कितने पुरुषों के पौरुष रूपी पुष्प कुम्हलाकर झड़ गये हैं । न जाने कितनी महिलाओं की मन्द मुस्कान सदा के लिए समाप्त हो गयी है । इस युद्ध से हमारी शारीरिक और मानसिक अवस्था इस प्रकार झकझोरी जाकर विच्छृंखल हो गयी है कि जान पड़ता है, कि सारा सामाजिक जीवन जड़ से उखड़ गया है । हमारे पापों का बोझ नयी पीढ़ी की पौध पर ऐसा पड़ने वाला है कि वह पीढ़ी उस बोझ के वज्रपात से तहस-नहस होकर नष्ट-भ्रष्ट होने से कहाँ तक बच सकेगी यह संदिग्ध है ।

असंधिमित्रा : पर, जो तुम्हारी यही दशा रही तो तुम तो विक्षिप्त हो जाओगे ।

कारुवाकी : अवश्य ।

अशोक : मुझे भी ऐसा ही ज्ञात होता है, और देखो, इस समस्त हिंसात्मक दारुण कांड का उत्तरदायित्व मुझ पर है । जब कलिंग का वह रोमांचकारी संहार हो चुका और कलिंग

नरेश ने घुटने टेके, उस समय उन्होंने कहा था इस काण्ड में जो मानव-संहार हुआ है, उसका दोषी कौन है, यह इतिहासज्ञों का विषय होगा। ठीक···ठीक···सर्वथा ठीक कहा था कलिंगाधिपति ने।·· उन्होंने और भी कुछ कहा था।

असंधिमित्रा : क्या ?

अशोक : उन्होंने कहा था कि देश-भक्ति, स्वाधीनता-प्रेम और अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए सब कुछ न्यौछावर करने का साहस कलिंग ने दिखाया। जब तक कलिंगवासियों में थोड़ी भी शक्ति, थोड़ा भी सामर्थ्य रहा, तब तक उसने मगध की महान् और असीम बलशाली सेना की भी परवाह न की और वीरोचित रीति से उसका सामना किया। छोटे से कलिंग देश के लिए, उसकी स्वाधीनता की रक्षा हेतु मगध के राजा का इस प्रकार सामना उसके लिए अत्यन्त गौरव का विषय है। कलिंग नरेश का एक-एक शब्द, उसका एक-एक अक्षर, उसकी एक-एक मात्रा ठीक है। (दीर्घ निःश्वास ले उसे छोड़ते हुए) हमने कलिंग पर आक्रमण किया। हम आततायी हैं, कलिंग नहीं।

असंधिमित्रा : पर, तुम तो सदा कहा करते थे कि 'वीरभोग्या वसुन्धरा'।

कारुवाकी : हाँ, मैंने भी न जाने कितनी बार आपके मुँह से यह उक्ति सुनी है।

अशोक : पर अब वीर की सच्ची परिभाषा क्या है, इस संबंध

में मेरे मन में द्वन्द्व उत्पन्न हो गया है ।

असंधिमित्रा : वीर की परिभाषा ! यह भी द्वन्द्व का विषय !

कारुवाकी : वीर की परिभाषा में तो द्वन्द्व न होना चाहिए ।

अशोक : नहीं, हमारे देश की संस्कृति में भी वीरों की कई परिभाषाएँ हैं ।

असंधिमित्रा : कई परिभाषाएँ ?

कारुवाकी : जैसे ?

अशोक : जैसे, धर्मवीर, दानवीर, युद्धवीर आदि । और जहाँ तक युद्धवीर का संबंध है, मेरा यह मत हो गया है कि आक्रमणकारी को युद्धवीर न कह आततायी कहना चाहिए । ऐसे आतताइयों के हृदय शुष्क होते-होते पाषाण-वत्...नहीं, नहीं पाषाणवत् नहीं पाषाण ही...नहीं नहीं, पाषाण नहीं, उससे भी कठोर...कठोरतम, निर्मम और निष्प्राण हो जाते हैं ।

असंधिमित्रा : परन्तु, समाज तो इन्हें वीर ही मानता है ।

अशोक : समाज ! समाज के अधिकांश व्यक्ति विचार की शक्ति नहीं रखते । वहुत समय से जो सुनते आते हैं, वही ठीक है, यह मानते हैं, क्योंकि किसी विशिष्ट समय की आवश्यक-ताओं के कारण जो कुछ अतीत में होता रहा है, उससे समाज का एक प्रकार का रूप बन जाता है, उन आव-श्यकताओं के न रहने पर भी समाज के उस ढाँचे को परि-वर्तित होने में समय लगता है । जिस समय मत्स्य न्याय के विना जीवित नहीं रहा जा सकता था उस समय के

समाज में आक्रमणकारी को भी युद्धवीर कहा जाता होगा। परन्तु, अब युद्धवीर यदि किसी को कहा जा सकता है तो अपनी रक्षा में युद्ध करने वाले को। कलिंग-युद्ध में मगध के योद्धा युद्धवीर न होकर आततायी थे, यदि युद्धवीर कोई थे तो कलिंग के साहसी सैनिक। फिर एक बात और है।

असंधिमित्रा : कौनसी ?

अशोक : न्यायप्रिय होना युद्धवीर होने की अपेक्षा कहीं कठिन है।

असंधिमित्रा : परन्तु, प्रिय, राज्याभिषेक के दिवस तुमने कहा था कि केवल भारत का ही नहीं पर समूचे जम्बूद्वीप का भावी उत्कर्ष तुम भारतीय साम्राज्य की एकता पर मानते हो।

अशोक : मेरे उस मत में अभी भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

असंधिमित्रा : तो कलिंग युद्ध भारतीय एकता के अनुष्ठान का ही एक विधान था।

कारुवाकी : हाँ, बिना इस प्रकार के युद्धों के भारतीय एकता किस प्रकार हो सकती है ?

अशोक : प्रेम से, युद्ध से नहीं। युद्ध से जिस एकता का प्रयत्न किया जाता है, वह एकता कभी स्थायी नहीं रह सकती। युद्ध में जो नर-संहार होता है, उसके जो परिणाम निकलते हैं, उससे विजेताओं और विजितों के बीच रुधिर की नदियाँ ही नहीं बहने लगतीं, रुधिर के तूफानी समुद्रों का निर्माण हो जाता है जिसमें प्रेम और विश्वास डूब

हैं। एक दूसरे के प्रति घृणा और रोष के ज्वालामुखी पर्वत बन जाते हैं। हर क्षण उनके विस्फोट की आशंका बनी रहती है। और वह विस्फोट कभी-न-कभी होकर रहता है। मैं जो यह कहा करता था कि मैं महान् कार्य करूँगा उसके स्थान पर अब मैं यह सोचने लगा हूँ कि मैं अच्छा कार्य करूँगा, महान् कार्य से अच्छा कार्य कहीं श्रेष्ठ है और मेरा यह निर्णय किसने कराया है, जानती हो ?

असंधिमित्रा : किसने ?

कारुवाकी : हाँ, बताइए, किसने ?

अशोक : मेरे स्वयं के अन्तःकरण ने। मुझे अनुभव हुआ है कि हर मानव के अन्तःकरण की नींव में एक प्रकार का न्याय रहता है, जिसके द्वारा वह अपनी और अन्यों की वृत्तियों की परख किया करता है; और इस परख में उसे क्या अच्छा है और क्या बुरा, इसका पता लग जाता है। अच्छे और बुरे का पता लगते ही क्या अच्छा है और क्या बुरा, अन्तःकरण इसकी घोषणा करता है; जिस घोषणा को मैं अन्तरात्मा की घोषणा कहता हूँ। हम प्रायः इसकी अवहेलना किया करते हैं और यह अवहेलना ही हमारे दुःखों की जड़ है। मेरा भावी कार्यक्रम इसी घोषणा ने निर्धारित कराया है। और एक बात और।

असंधिमित्रा : क्या ?

अशोक : दार्शनिक तर्क प्रायः अविश्वास की ओर ले जाता है और अन्ध श्रद्धा धर्मान्धता की ओर। इन दोनों की अति

को बचाकर जिस पथ पर चलने के लिए अन्तरात्मा को यह घोषणा प्रेरित करे उस पथ को सत्य-पथ मान उसी पर चलना चाहिए। इस यात्रा में न गर्व का स्थान होना चाहिए और न हीनता की भावना का। किसी प्रकार की निर्बलता तो आनी ही नहीं चाहिए। इस संसार में इस प्रकार के कर्त्तव्य-पथ पर चलना ही जीवन को सार्थक करना है। जब हम इस पर चलते हुए अपने आपको विस्मृत कर देते हैं तभी यथार्थ में हम अपने आपका सच्चा स्मरण करते हैं। जीवन यथार्थ में अपने आप में कुछ भी नहीं है। उसका मूल्य इस बात पर निर्भर है कि हम उसका कैसा उपयोग करते हैं। यदि हम अपने सूर्य का मिलान अन्य सूर्यों से करें तो हमारा सूर्य तुच्छ दिखायी पड़ता है। यदि हम अपनी पृथ्वी का मिलान अपने सूर्य से करें तो हमारी पृथ्वी तुच्छ दीख पड़ती है। इस पृथ्वी पर न जाने कितने मानव, महत्त्वशाली मानव आये और चले गये और न जाने कितने आयेंगे और चले जायेंगे। अतः जैसा मैंने अभी कहा जीवन को क्या महत्त्व है; महत्त्व है इस बात को कि आप इस जीवन में क्या करके जाते हैं। हमारा कर्त्तव्य अन्तरात्मा की घोषणा के अनुसार आदर्शों को स्थिर कर उन्हीं पर विचार करना और उन्हीं के स्वप्न देखना है। इन विचारों और स्वप्नों को कार्यरूप में परिणित करने के लिए संकल्प करना और उन संकल्पों को प्रत्यक्ष रूप देना है। जो यह करता है और इसके लिए

निरन्तर श्रम करता रहता है तथा अभीष्ट की सिद्धि के लिए यदि आवश्यकता पड़े तो मरने के लिए भी तैयार रहता है, वही सच्चा मानव है। किसी भी अभीष्टकी सिद्धि तब होती है, जब उस सिद्धि के लिए अन्त, सर्वथा अन्त तक जाने का साहस हो और इसके लिए कभी भी रिक्त न होने वाले धैर्य का कोष। और मानव का कोई भी अभीष्ट पैशाचिक अभीष्ट ही रहता यदि उस अभीष्ट की नींव दया की नींव न रहती।

[राधागुप्त का प्रवेश]

राधागुप्त : (आगे बढ़कर) आज्ञा के अनुसार उपस्थित हूँ, श्रीमान् !

अशोक : (राधागुप्त की ओर देखते हुए) बैठिए, अग्रामात्य।

[राधागुप्त पर्यक के समीप एक आसन्दी पर बैठ जाता है।]

अशोक : अग्रामात्य, आजकल की मेरी मनोदशा आपसे छिपी नहीं है, इसीलिए आज इस समय मैंने आपको कष्ट दिया।

राधागुप्त : महाराज की मनोदशा से मैं ही क्या, आजकल सारा साम्राज्य परिचित हो गया है। हम आपके समीपवर्ती चिंतित भी कम नहीं है; परंतु···परंतु (चुप रह जाता है।)

अशोक : परंतु, पर ही आप रुक क्यों गये, अग्रामात्य ?

राधागुप्त : इसलिए, श्रीमान्, कि इस मनोदशा के सुधारने के लिए हमें कोई मार्ग नहीं सूझ पड़ रहा है। साम्राज्य के समस्त कार्य निश्चित निर्धारित नीति के अनुसार चल रहे

हैं, व्यवस्था में कहीं कोई व्यतिक्रम नहीं। सिंहासनासीन होने के समय जो घोषणाएँ आपने की थीं उन्हें अक्षरशः पालन करने का प्रयत्न किया जा रहा है। उत्तरापथ से दक्षिणापथ तक समूचे भारत में पूर्ण शान्ति स्थापित है और यदि इस शान्ति को भग्न करने प्रत्यक्ष में या परोक्ष में, जान में या अनजान में किसी प्रयत्न होने की जरा फुस-फुसाहट भी सुन पड़ती है तो उसका तत्काल दमन कर दिया जाता है। सारी प्रजा स्वर्ग-सुख का अनुभव कर रही है। कहीं दुःख-दारिद्रय का वास नहीं। सहस्रों ब्राह्मण और श्रवण नित्य भोजन पा रहे हैं। जैसी विहार-यात्राएँ आपके सिंहासनासीन होने के पश्चात् हुईं वैसी भारत के इतिहास में कभी नहीं हुई थीं। राजराजेश्वर सम्राट् चन्द्रगुप्त के पश्चात् राज्य-विस्तार का कोई प्रयास नहीं हुआ था, हाल ही में कलिंग-विजय का एक सफल प्रयत्न हुआ और मगध की सेना ने शत्रुओं के जिस प्रकार दाँत खट्टे किये उसके कारण भारत के जो विभाग अभी तक मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित नहीं हैं, वे इतने आशंकित और भयभीत हो गये हैं कि मुझे विश्वास है कि स्वयं सम्मिलित होने के लिए आवेदन-पत्र भेजेंगे। इस युद्ध के कारण उन विदेशियों तक के छक्के छूट गये हैं जिनसे इस संग्राम का कोई सरोकार न था। आपने राज्याभिषेक के दिन जो यह कहा था कि किसी भी विदेशी ने भारत पर यदि भूल से भी लालच भरी कोई कुदृष्टि उठायी तो उस पर भारत का

तत्काल आक्रमण होगा और वह मटियामेट कर दिया जायगा। उस प्रकार के किसी आक्रमण की कोई आवश्यकता ही न पड़ेगी। इतने···इतने पर भी यदि श्रीमान् की ऐसी मनोदशा है, यदि आप सुखी न होकर दुखी हैं, तो···तो (चुप हो जाता है।)

अशोक : अग्रामात्य, मैंने आपकी सभी बातें ध्यान से सुनीं। आपने इस समय भारतीय साम्राज्य का जो स्वरूप, उसका जो चित्र मेरे सामने प्रस्तुत किया, उस चित्र में यदि कहीं प्रकाश है तो कहीं कालिमा भी।

राधागुप्त : (कुछ आश्चर्य से) कालिमा तो मुझे कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती, श्रीमान्।

अशोक : इसलिए कि आपके और मेरे आदर्शों तथा उन आदर्शों पर पहुँचने के लिए जिन साधनों का उपयोग होना चाहिए उनमें अन्तर पड़ गया है।

राधागुप्त : अर्थात् ?

अशोक : इस सम्बन्ध में कभी कोई, और कभी कोई बात होती रही है, पर पूरी बात अब तक नहीं हो पायी, क्योंकि उन आदर्शों का तथा उन आदर्शों तक पहुँचने के लिए जिन साधनों को मैं सोच रहा था, उनका अब तक कोई बहुत स्पष्ट रूप मेरे सामने भी नहीं था। आज वह हो पाया। इसीलिए मैंने आपको ऐसे समय में भी बुलाया।

राधागुप्त : हम लोग आज्ञानुगामी हैं। अब तक की आज्ञाओं का पालन किया है, भविष्य में भी करेंगे और यदि···

यदि ··(चुप हो जाता है।)

अशोक : यदि पर आप चुप हो गये, अग्रामात्य।

राधागुप्त : स्पष्ट तो कहना ही होगा, सम्राट्। यदि हम उन आज्ञाओं का पालन न कर सकेंगे तो सेवा में त्याग-पत्र प्रस्तुत कर देंगे।

अशोक : देखिए, अग्रामात्य, आपने जो यह कहा कि साम्राज्य के समस्त कार्य निर्धारित नीति के अनुसार चल रहे हैं, व्यवस्था में कहीं कोई व्यतिक्रम नहीं, सिंहासनासीन होने के समय जो घोषणाएँ मैंने की थीं उनका अक्षरशः पालन करने का प्रयत्न किया जा रहा है, उत्तरापथ से दक्षिणापथ तक समूचे देश में शान्ति है, सारी प्रजा सुख का अनुभव कर रही है, सहस्रों ब्राह्मण और श्रवण नित्य भोजन पा रहे हैं, बड़ी सुन्दर विहार-यात्राएँ हो रही हैं; यह सब राज्य के इस समय के चित्र का प्रकाश वाला पहलू है।

राधागुप्त : और अन्धकार वाला पहलू, श्रीमान्?

अशोक : अन्धकार वाला पहलू है, शान्ति को भंग करने के प्रयत्नों का दमन, राज्य के विस्तार का प्रयत्न, कलिंग का गत युद्ध जिसने देश और विदेश में आपके कथनानुसार ही भय और आतंक को उत्पन्न किया है, वह।

राधागुप्त : तब···तब, श्रीमान्, शान्ति को भंग करने का प्रयत्न होने दिया जाय? राज्य का विस्तार कर जिस भारतीय एकता को आप केवल भारत ही नहीं पर

समूचे जम्बूद्वीप के भावी उत्कर्ष के लिए आवश्यक मानते थे यह विस्तार भी न किया जाय ?

अशोक : इन कार्यों के लिए मैं अन्य साधनों का उपयोग करना चाहता हूँ ।

राधागुप्त : जैसे ?

अशोक : जैसे यदि कोई शान्ति भंग करना चाहता है तो उसका शमन दमन से न कर प्रेम से करना चाहिए, राज्य का विस्तार हिंसा से न कर अहिंसा से करना चाहिए ।

राधागुप्त : शांति भंग करने के प्रयत्नों का शमन दमन से नहीं ! राज्य विस्तार अहिंसा से ! यह कभी हो सकता है ?

असंधिमित्रा : अब तक तो मानव इतिहास में कभी नहीं हुआ ।

कारुवाक : कभी नहीं ।

अशोक : और कभी नहीं हुआ इसलिए कभी हो भी नहीं सकता, आप लोग ऐसा क्यों समझते हैं ? क्या मानव इतिहास का अंतिम पृष्ठ तक लिख डाला गया है ? जो भूत में होता रहा है, उसी की पुनरावृत्ति क्या सदा भविष्य में भी होती रहेगी ?

[कोई कुछ नहीं बोलता, कुछ देर निस्तब्धता ।]

अशोक : नहीं, नहीं, अग्रामात्य नहीं ; नहीं, रानियो, नहीं ; मैं ऐसा निराशावादी नहीं हूँ । यदि हिंसा को ही हर बात का अंतिम निर्णायक रहना है तो संसार का भविष्य अत्यन्त अन्धकारमय है । हिंसा से हिंसा की उत्पत्ति होगी, और यह हिंसा निरन्तर बढ़ती जायगी । एक दिन

ऐसा आयगा जब इस हिंसा से सारी मानव-संस्कृति, सारी मानव-सभ्यता ही नहीं, मानव का ही नाश हो जायगा। अतः संसार के कार्यों में, कम से कम सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ रचना इस मानव के कार्यों में, हिंसा का मैं कोई स्थान नहीं मानता। अहिंसा और प्रेम से मानव के कार्य चलने और निपटने चाहिएँ।

राधागुप्त : सद्धर्म्म का महाराज पर धीरे-धीरे प्रभाव बढ़ रहा था यह हमें ज्ञात था। चौरासी हजार विहारों का निर्माण इस प्रभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण है। पर···पर क्या अब श्रीमान् हम लोगों को छोड़कर युवराज महेन्द्र और राजकुमारी संघमित्रा के सदृश भिक्षु होने जा रहे हैं ?

असंधिमित्रा : आजकल जिस प्रकार व्यथित रहने लगे हैं, न भोजन का ठिकाना है और न निद्रा का, उससे तो यही भास होता है।

कारुवाकी : जिस भय और आतंक का आप साम्राज्य नहीं चाहते आपकी दशा के कारण हम लोग भी अत्यन्त भय-भीत और आतंकित हो गये हैं।

अशोक : (मुस्कराकर) कलिंग के युद्ध में जो कुछ हुआ उसका प्रभाव तो मेरे मन पर इसी प्रकार पड़ा है कि मैं भिक्षु हो जाऊँ, परन्तु, पितृव्य चन्द्रगुप्त द्वारा संस्थापित इस भारतीय साम्राज्य का क्या होगा यह प्रश्न भी मेरे सामने है। महेन्द्र भिक्षु हो गया, कुणाल और तीवर अल्पवयस्क हैं, इसलिए साम्राज्य के संचालन का जो उत्तरदायित्व मैंने

स्वीकार किया है उससे मैं मुक्त नहीं हो सकता। सद्-धम्म ग्रहण करूँगा पर उपासक ही रहूँगा, भिक्षु श्रेणी में नहीं जा सकूँगा और राज्य का संचालन करते हुए भी अब कलिंग-युद्ध के सदृश न मानव-संहार होगा न सहस्रों ब्राह्मणों तथा श्रवणों के नित्यप्रति के भोजन एवं विहार-यात्राओं के लिए अन्य जीवों का वध। मानव का सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ स्थान उसकी ज्ञान-शक्ति के कारण है। वह जिस प्रकार विचार कर सकता है अन्य प्राणी नहीं। विचार-परिवर्तन के लिए सद्धम्म के प्रचार में साम्राज्य की सारी शक्ति को लगा दूँगा और अहिंसा के द्वारा लोक-कल्याण के कार्यों में साम्राज्य का समस्त कोष। आदर्शों का निर्णय उतना कठिन नहीं जितना उन आदर्शों तक पहुँचने के लिए साधनों का निश्चित करना कठिन है। मैंने अब आदर्शों के साथ उन आदर्शों तक पहुँचने के साधनों का भी निश्चय कर लिया है। फिर साध्य की अपेक्षा भी मैं साधनों को अधिक महत्त्व देता हूँ, क्योंकि साध्य सदा प्राप्य नहीं रहते, परन्तु उनकी प्राप्ति के प्रयत्नों में जिन साधनों का उपयोग होता है, वे साधन मानव के मन और समाज को गढ़ते हैं। और एक बात और।

असंघमित्रा : कौनसी ?

अशोक : विचार का कृति से कभी विच्छेद नहीं होना चाहिए। कृति दो प्रकार की होती है, एक समीपवर्ती और दूसरी दूरवर्ती। दूरवर्ती कृति के कारण निकटवर्ती कृति की अव-

हेलना न होनी चाहिए। साथ ही समीपवर्ती के कारण दूर-वर्ती के विचार-क्षेत्र पर पर्दा न पड़ना चाहिए। किसी वस्तु को श्रेष्ठ समझकर भी उस ओर न बढ़ना और किसी वस्तु को निकृष्ट मानते हुए भी उससे चिपटे रहना मूढ़ता की पराकाष्ठा है। उस अज्ञान पर विजय प्राप्त करना जो सत् असत् के निर्णय में झिझक उत्पन्न करता है, सच्ची विजय है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् किसी तरह का खेद नहीं रहता।

[**फिर कोई कुछ नहीं बोलता, कुछ देर निस्तब्धता।**]

अशोक : अग्रामात्य, मेरे कार्य की भावी नीति ऐसी नहीं है जिसके लिए आपको त्याग-पत्र देने की कोई आवश्यकता हो। इस नवीन-राज्य-प्रणाली में भी मुझे आपके, अन्य साथियों के और समस्त प्रजा के उसी प्रकार के सहयोग की आवश्यकता है जिस प्रकार के सहयोग की आवश्यकता थी मौर्यवंश के गृह-कलह को शमन करने में और अब तक के समस्त कार्यों में। (कुछ रुककर) अग्रामात्य, मेरा मानसिक संघर्ष चरम सीमा को पहुँच चुका था, मुझे अब तक कोई स्पष्ट मार्ग नहीं सूझ पड़ रहा था। इस श्याम मेघ में आज ही प्रकाश की एक किरण दृष्टिगोचर हुई है। इस किरण के दृष्टिगोचर होते ही मुझे अनुभव होने लगा कि अच्छे उद्देश्य मन पर अच्छा प्रभाव न डालें यह हो ही नहीं सकता। आप शीघ्र से शीघ्र समस्त राजपुत्रों, राष्ट्रीयगणों, राजुकों, युक्तों, नगर-व्यवहारिकों,

प्रदेष्ट्रियों, भिक्षुओं और नागरिकों आदि की एक वैसी ही सभा बुलवाइए जैसी मेरे राज्याभिषेक के समय बुलायी थी।

[नेपथ्य से उषःकाल की प्रार्थना का स्वर सुन पड़ता है।]

संघमित्रा : लीजिए, उषःकाल का समय हो गया, उषःकाल की प्रार्थना आरम्भ हो गयी है।

अशोक : मेरी यह नवीन नीति भी उषःकाल के सदृश संसार के उत्कर्ष का सुन्दर और सुनहरा प्रकाश लाये।

[प्रार्थना के कारण सब लोग खड़े हो जाते हैं।]

गीत

हे विशुद्ध ! हो प्रबुद्ध दूर करो अन्धकार।
महानील अन्तरिक्ष, खोलता आलोक द्वार।
नवप्रकाश-किरण चपल,
अवनी पर उतर विकल,
जगती का जड़ शरीर,
परस मृदुल कर अधीर,
करती जीवन संचार
रजनी-तम-गात्र श्याम,
धूमिल घन रजो धाम,
विस्मृति का मोह खींच,
सत्व सुधा अमर सींच,
भरती आनन्द सार।

अशोक : (गीत पूर्ण होने पर) परिवर्तन ही जीवन है, स्थिरता तो मृत्यु है। जीवित रहने का अर्थ ही गति है और ग

परिवर्तन विना असंभव है । जैसा मैंने अभी-अभी कहा था मानव सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी इसलिए है कि उसे निसर्ग ने ज्ञान-शक्ति दी है । इस ज्ञान-शक्ति के कारण जीवन के परिवर्तन के पूर्व उसके विचारों में परिवर्तन होता है और विचारों के परिवर्तन के पश्चात् उन विचारों के अनुसार जीवन में परिवर्तन । विचारों और जीवन का यह परिवर्तन तब कल्याणकारी होता है, जब हृदय शुद्ध हो । मुझे हर्ष है कि हृदय को शुद्ध रखने के लिए निसर्ग ने मानव-मन को जो सहानुभूति की शक्ति दी है, उस सहानुभूति से उत्पन्न दया के कोष से मेरा हृदय रिक्त नहीं हुआ है । मानव मस्तिष्क और हृदय दोनों से शासित होता है, परन्तु, मस्तिष्क उसे जिस सत्य का ज्ञान कराता है और उस ज्ञान से वह जीवन के लिए जिन स्वप्नों की सृष्टि करता है वे हृदय द्वारा ही मूर्त्तिमन्त किये जा सकते हैं । उन स्वप्नों की भूमि का हृदय नेह के नीर से सिञ्चन करता है । फिर समस्त जीवों के हित का बीज बोता है । इन बीजों से उत्पन्न पौधों के पोषण के लिए मस्तिष्क से निकली हुई तर्क रूपी पवन की जो प्रायः स्वार्थ से मिश्रित रहती है, आवश्यकता नहीं है, परन्तु हृदय से उत्पन्न उत्साह रूपी प्राणवायु की आवश्यकता है, जिसमें परार्थ ही परार्थ रहता है ।

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र के राजभवन का सभाआलय

समय : मध्याह्न

[वही आलय है जो दूसरे अंक के तीसरे दृश्य में था। उसी प्रकार राजपुत्रों, राष्ट्रीयगणों, राजुकों, युक्तों और प्रतिष्ठित नागरिकों आदि से भरा हुआ है। पर आज सिंहासन के दाहिनी ओर की सुवर्ण की आसन्दी पर महाधर्माध्यक्ष के स्थान पर उपगुप्त बैठा है। उपगुप्त की अवस्था लगभग पचास वर्ष की है। वह ऊँचा-पूरा गेहुँए रंग का व्यक्ति है। बौद्ध भिक्षुओं के सदृश पीत चीवर धारण किये है। इसके पास की आसन्दी पर विगताशोक, सिंहासन के बायीं ओर की आसन्दियों पर आज राधागुप्त, महेन्द्र तथा संघमित्रा नहीं हैं। महेन्द्र और संघमित्रा अनेक भिक्षु-भिक्षुणियों के संग नागरिकों के साथ बैठे हैं। उस दिन के और आज के दृश्य में एक अन्तर और है, उस दिन आलय जिस प्रकार मंगल कलशों, कदली वृक्षों, पत्र-पुष्पों की वन्दनवारों आदि से सजा था उस प्रकार आज सजा नहीं है। सिंहासन आज भी रिक्त है। थोड़ी ही देर में आज भी वाद्य-ध्वनि सुन पड़ती है और उसके पश्चात् उसी सजधज के साथ शिविका पर अशोक आता है। उसकी शिविका के साथ राधागुप्त पैदल चल रहा है। शिविका सिंहासन के

सामने रखी जाती है। अशोक शिविका से उतर सिंहासन पर बैठता है। राधागुप्त सिंहासन के बायीं ओर की आसन्दियों में से पहली आसन्दी पर।]

अशोक: (सिंहासन पर से उठ व्यासपीठ पर बैठकर) गुरुदेव, अग्रामात्य, राजपुत्रो, राष्ट्रीयगणो, राजुको, युक्तो, नगर व्यावहारिको, प्रदेष्ट्रियो, भिक्षुओ, भिक्षुणियो, नागरिको तथा अन्य समस्त सभासदगण ! लगभग नौ वर्ष पूर्व इसी सभा-आलय में आपने मेरा राज्याभिषेक किया था। गत नौ वर्षों में भारतीय साम्राज्य में जो कुछ हुआ है वह आपको ज्ञात है। राज्याभिषेक के दिन मैंने आपको अपने राज्य-संचालन के कुछ उद्देश्य बताये थे, उनमें से एक था उत्तरापथ से दक्षिणापथ तक शांति की स्थापना रखना और दूसरा था भारतीय साम्राज्य की एकता। गत नौ वर्षों में समूचे भारतीय साम्राज्य ने शांति का अपूर्व सुख भोगा है। प्रजा में दुःख-दारिद्रय का कष्ट भी नहीं रहा और प्रजा में जैसा सुख है उसका आभास विहार यात्राओं आदि में मिलता है।

एक व्यक्ति : आपकी प्रजा सर्वसुखसम्पन्न है !

सभासद : (एक साथ) सर्वसुखसम्पन्न, सर्वसुखसम्पन्न !

अशोक : परन्तु मैं सर्वसुखसम्पन्न नहीं हूँ। यद्यपि मैंने अपने और सर्वसाधारण के सुख के और भी कुछ कार्य किये हैं जिनमें प्रधान कार्य हैं सद्धम्म के प्रचारार्थ देश में चौरासी हजार विहारों का निर्माण, तथापि एक ओर यदि अहिंसा का अवलम्बन कर इन चौरासी हजार विहारों का निर्माण

हुआ है तो दूसरी ओर प्राचीन परिपाटी के अनुसार हिंसात्मक काण्ड भी चले जा रहे हैं। सहस्रों ब्राह्मणों, श्रवणों आदि के भोजन के लिए तथा विहार-यात्राओं के भोजों के लिए अगणित पशुओं का वध होता है और दूसरी ओर भारतीय एकता के नाम पर हाल ही में कलिंग-युद्ध लड़ा गया, जिसका नर-संहार मुझे जागते-सोते किसी भी अवस्था में क्षणमात्र को भी चैन नहीं लेने देता। इसीलिए राज्य-संचालन की भावी नीति के संबंध में मैंने कुछ निर्णय किये हैं और उन्हीं की घोषणा के निमित्त आज की इस सभा का आयोजन किया गया है। मेरी पहली घोषणा है भारतीय साम्राज्य की एकता के लिए अब कोई युद्ध न होगा।

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : भगवान् तथागत की जय !

अशोक : मेरी दूसरी घोषणा है ब्राह्मणों, श्रवणों आदि के लिए अथवा विहार यात्राओं के लिए किसी भी जीवधारी का अब वध न किया जायगा।

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : भगवान् तथागत की जय !

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : सद्धम्म की जय !

अशोक : इस प्रकार भारतीय साम्राज्य में आज से युद्ध और

हर प्रकार की हिंसा की समाप्ति हो जायगी। भेरी-घोष के स्थान पर धर्म-घोष होगा और विहार-यात्राओं के स्थान पर धर्म-यात्राएँ !

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : भगवान् तथागत की जय !

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : सद्धम्म की जय !

अशोक : इस सृष्टि में मानव का सर्वश्रेष्ठ स्थान उसकी ज्ञान-शक्ति के कारण है, निसर्ग ने मनुष्य को विचार करने की जो शक्ति दी है वह अन्य किसी प्राणी को नहीं। विचार-परिवर्तन के लिए राज्य का आगे का मुख्य कार्य होगा सद्धम्म का प्रचार। इसके लिए समस्त राज्य में धम्म महामात्यों की नियुक्ति की जायगी। उत्तरापथ से दक्षिणापथ तक शिला-स्तूपों, शिला-स्तंभों आदि का निर्माण होगा जिन पर शिलालेख लिखे जायँगे।

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : भगवान् तथागत की जय !

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : सद्धम्म की जय !

अशोक : इस प्रकार विचार परिवर्तन कर अहिंसा और प्रेम द्वारा केवल भारतीय एकता का ही प्रयास न किया जायगा, पर समस्त जम्बू द्वीप और सारे संसार को इसी अहिंसा और प्रेम के एक सूत्र में बाँधने का भी प्रयत्न होगा।

के लिए सद्धम्म का संदेश लेकर भारत के बाहर भी
भिन्न-भिन्न देशों में दूत भेजे जायँगे। इन दूतों में सर्व-
प्रथम जायँगे मेरे पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा लंका
द्वीप।

बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन
की जय !

बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : भगवान् तथागत की जय !

बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : सद्धम्म की जय !

अशोक : सद्धम्म के प्रचार का कोई भी यह अर्थ न समझे कि
अन्य धर्मों को मैं कोई हेय दृष्टि से देखता हूँ या अन्य
धर्मों का इस राज्य में कोई नीचा स्थान है ?

सभासद : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

अशोक : वैदिक धर्म, जैन धर्म, सद्धम्म और अन्य भी जो धर्म
हैं वे एक सी पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं और देखे जायँगे।

सभासद : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

अशोक : ब्राह्मण, श्रवण अजीविका आदि समस्त का समान
सम्मान है और रहेगा।

सभासद : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

अशोक : अग्रामात्य, राजपुत्र, राष्ट्रीय, प्रादेशिक, धम्ममहामात्य,
राजुक, युक्त, उपयुक्त, विनययुक्त, ग्रामकूट, अन्त-
महामात्य, नगर व्यावहारिक, प्रदेष्ट्री, व्रजभूमिक,
मुखदूत आदि समस्त राजकर्मचारियों को इसी नीति
को कार्य रूप में परिणत करना है। संघों, परिषदों,

अनुस्यानयनों, मंत्रिपरिषदों, जनपदों, निगमसभाओं आदि को भी इसी नीति का प्रतिपालन् करना होगा। तक्षशिला, अवन्ति, सुवर्णगिरि और कलिंग चारों प्रदेशों और इन प्रदेशों के अन्तर्गत आहारों, विषयों, पुरों, ग्रामों तक यही नीति प्रचलित की जायगी। राजकर्मचारियों की हर प्रकार की अनुस्यानयन और नागरिकों के हर प्रकार के समाज इसी नीति का प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार से समर्थन करेंगे। इन राजकर्मचारियों और नागरिकों की परख उनकी भूलों से न की जाकर वे कहाँ तक सफल होते हैं उन सफलताओं से की जायगी। उनके विश्वासों से न की जाकर उनकी कृतियों से की जायगी। जिन्हें हम अन्त कहते हैं, सीमा पर योन, कंबोज, गन्धार, रास्त्रिक-पेतेनिक, भोज-पेतेनिक, नाभक, नाभपति, आन्ध्र, पुलिंद, चोड, पांड्य, सातीयपुत्र, केरलपुत्र, तंवपंति इन सभी से इसी नीति के अनुसार व्यवहार होगा।

कुछ सभासद : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

अशोक : राज्य का समस्त कोष इसी धर्माधिष्ठान में व्यय होगा और इसके लिए अनुग्राहिकों का प्रवन्ध किया जायगा। इस कार्य में किसी प्रकार की परिवाधा क्षणमात्र को भी सहन न होगी।

सभासद : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

अशोक : विचार परिवर्तन के इस प्रयत्न के अतिरिक्त [illegible] में सब प्रकार के दैहिक सुख रहें इसके [illegible]

जो कूप, मार्ग-प्रतिथि-आलय, उद्यान आदि सुखधाम हैं उनकी वृद्धि की जायगी। शिक्षालय बढ़ाये जायँगे, जिससे एक व्यक्ति भी अशिक्षित नहीं रहे, रोगियों के लिए नगरों और ग्रामों में चिकित्सालयों की भी वृद्धि होगी और पशुओं की रक्षा के लिए एक नयी वस्तु पंजरोलों की स्थापना की जायगी और इनके प्रधान कर्मचारियों का नाम होगा 'गोध्यक्ष'।

सभासद : धन्य है ! धन्य है !

अशोक : इस संसार में करूँगा कहने और सचमुच करने में बड़ा अन्तर है। यथार्थ में मानव को अपनी कृतियों के संबंध में न बोलकर उन कृतियों को उसके संबंध में बोलना चाहिए। भगवान् तथागत मुझे करने की और अपने सिद्धान्तों के अनुसार जीवन को चलाने की शक्ति दें, यही मेरी प्रार्थना है। और यह शक्ति भी बड़ी विलक्षण वस्तु है। अनेक बार अपनी ही शक्ति अपने आपको लेकर खेलने लगती है। मेरे संकल्पों को पूर्ण करने के प्रयत्न में इस शक्ति का यह रूप न होने पावे यह भी मैं भगवान् तथागत से प्रार्थना करता हूँ।

सभासद : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

अशोक : मनुष्य सूर्य से भी अधिक प्रकाशवन्त और अमारात्रि से भी अधिक काला हो सकता है। उसका मन आकाश से भी अधिक विस्तीर्ण और सुई की नोक से भी अधिक संकीर्ण हो सकता है। फिर शब्दों का क्या मूल्य है, मूल्य

है जीवन किस प्रकार चल रहा है, उसका। हर मानव को
प्रसन्न रहने का ही प्रयत्न करना चाहिए और अपने
मन को आकाश के समान ही विस्तीर्ण रखना चाहिए।
सब ही व्यक्तियों के लिए जो प्रयत्न वह करता है, उसमें
अविश्वास की छाया तक न पड़े इसके लिए सतत् सतर्क
रह कभी न झुकने वाले आशावाद से अपने मार्ग को सदा
आलोकित रखना चाहिए। आशावादिता में ही सच्चा
जीवन है, आशा के अभाव में आज के साथ ही आगामी
कल का भी विनाश हो जाता है।

[अशोक व्यासपीठ से उठ पुनः सिंहासन पर बैठता है। जोर-जोर से जयघोष होते हैं। उपगुप्त अपने आसन से उठ व्यासपीठ पर बैठ जाता है।]

उपगुप्त : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन ! अग्रामात्य, राजपुत्रो, राष्ट्रिकगणो, राजुको, युक्तो, नगर व्यावहारिको, प्रदेष्ट्रियो, भिक्षुओ, भिक्षुणियों, नागरिको तथा सभासदगणो ! संसार के इतिहास में आज का दिवस अद्वितीय दिवस है। सम्राटों और राजाओं ने हार के पश्चात् तो युद्ध छोड़े हैं, पर जीत के पश्चात् युद्ध का त्याग एक अभूतपूर्व घटना है। अब तक यह माना जाता रहा है कि राज्योत्कर्ष का सर्वप्रधान साधन हिंसात्मक-समर है, परन्तु सम्राट् अशोकवर्धन ने हिंसा को तिरस्कृत मान अहिंसा और प्रेम से केवल राज्योत्कर्ष करने का संकल्प नहीं किया है, परन्तु, समस्त संसार को एक सूत्र में पिरोने

इनके अर्थ करने की तो आवश्यकता ही नहीं है।

पहला नागरिक : बहुत अच्छी तरह समझ लिया।

दूसरा नागरिक : इन्हीं शब्दों का अर्थ समझते-समझते तो सारा दिन बीता है।

तीसरा नागरिक : हम इतनी मोटी बुद्धि के नहीं हैं कि दिन भर समझाये जाने पर भी न समझें।

दोनों भिक्षु : बहुत अच्छा, बहुत अच्छा।

[**दोनों का प्रस्थान**]

पहला नागरिक : किसी तरह पिंड छूटा। यह सारा राज्य बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों का संघाराम हो गया है।

दूसरा नागरिक : जो यह कहा जाता है कि राज्य सब धर्मों को समान दृष्टि से देखता है यह असत्य है।

तीसरा नागरिक : सर्वथा असत्य है। अन्यथा वैदिक धर्म के यज्ञ हिंसामय कहकर बंद किये जाते ? देव-मंदिरों में बलिदानों पर रोक लगायी जाती ?

पहला नागरिक : और आप देखियेगा तो युद्ध बंद करने का भी तो क्या फल होता है।

दूसरा नागरिक : युद्ध सदा से चला आता है, सदा चलता रहने वाला है, उसी में तो सच्चे वीर की परीक्षा होती है।

पहला नागरिक : सब नपुंसक हो जाने वाले हैं, नपुंसक !

दूसरा नागरिक : आर्य चाणक्य की सहायता से सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जिस मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी वही राज्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समस्त नियमों को भंग कर

रसातल को जा रहा है।

तीसरा नागरिक : भाई, थोड़ा धीरे-धीरे बोलो।

दूसरा नागरिक : धीरे-धीरे बोलने की क्या आवश्यकता है; दमन तो हो नहीं सकता, बहुत होगा तो प्रेमपूर्वक समझाया ही जाऊँगा न !

[नागरिकों का अट्टहास।]

तीसरा नागरिक : और देखो, उत्तरापथ से दक्षिणपथ तक एक भी ऐसा प्रधान स्थान नहीं जहाँ शिलास्तूपों, शिलास्तंभों को खड़ा कर-कर इन बौद्ध सिद्धान्तों के शिलालेख न लिखाये गये हों।

दूसरा नागरिक : अर्थात्, हम ही नहीं हमारी भावी पीढ़ियाँ भी इन विचारों का प्रचार कर नपुंसक बनायी जा रही हैं।

पहला नागरिक : नयी पीढ़ियाँ तो हमसे भी कहीं अधिक भीरु हो जायँगी क्योंकि हममें से तो कुछ में पुराने विचारों का भी अस्तित्व है। नयी पीढ़ियाँ तो आरम्भ से ही यही सीखेंगी।

तीसरा नागरिक : हम भीरु हैं या नपुंसक, यह मैं नहीं मानता।

दूसरा नागरिक : हाँ, हमारे ये विचार ही इस बात का प्रमाण हैं।

चौथा नागरिक : पर, भाई, जो कुछ कहो यह तो मानना ही होगा कि इस समय जितनी शांति है और प्रजा को जितना सुख है, उतना इसके पहले कभी भी नहीं था।

चवाँ नागरिक : वह सुख केवल मानव को ही नहीं समस्त जीव मात्र को है ।

पहला नागरिक : यह श्मशान की शांति है ।

दूसरा नागरिक : और कितना सुख है सो तो मैंने अभी बताया ही ।

तीसरा नागरिक : फिर जिसे तुम सुख समझते हो वह शक्ति-हीन होने के कारण । यदि कहीं से छोटा-मोटा आक्रमण भी हो गया तो यह सुख ऐसे दुःख में परिणत होगा जिसकी तुम कल्पना नहीं कर सकते ।

[नेपथ्य में वाद्य और गान की ध्वनि सुन पड़ती है जो निकट आ रही है ।]

पहला नागरिक : लो, गाना-बजाना आरम्भ तो हुआ ।

दूसरा नागरिक : नर्त्तकियाँ इसी ओर आ रही हैं ।

[कुछ नर्त्तकियों का नाचते-गाते हुए प्रवेश । इनके साथ वाद्य-वादक भी हैं और बहुत सा जनसमुदाय ।]

गीत

आज मन-मन में दीप जले ।
मृण्मय दीपक के विग्रह में,
चेतन है जड़ के निग्रह में,
ज्योति किरण को आवृत कर, घिर, तम की छाँह छले ।
दीपक के उर का सूनापन,
जब भर देते स्नेह बिन्दुकन,
धवल सूत्र का आश्रय ले नव, स्निग्ध प्रकाश पले

निज की छवि जब निज में झलकी,
युग-युग की स्मृति बरबस छलकी,
ज्वलित वर्तिका स्नेह-गरल में प्रतिपल डूब गले।

[गीत समाप्त होते होते अशोक, उपगुप्त, राधागुप्त, असंधिमित्रा, कारुवाकी, कुणाल, तीवर का प्रवेश। इनके आने पर जय-जयकार होता है।]

अशोक : कहो नागरिको, इस वर्ष दीपावली की यह धर्म-यात्रा कैसी रही ?

पहला नागरिक : अत्यन्त सफल, श्रीमान्।

दूसरा नागरिक : पहले तो विहार यात्राओं में यदि मानवों को सुख मिलता तो उस अनित्य सुख के लिए कितने जीवों का वध होता था।

तीसरा नागरिक : अब तो राज्य की नयी नीति के अनुसार जीव-मात्र महान् सुखी हैं।

पहला नागरिक : फिर, महाराज, केवल राग-रंग ही नहीं इस यात्रा में दर्शन और शृंगार दोनों का कैसा सुन्दर समन्वय हुआ है।

तीसरा नागरिक : सोने में सुगन्ध !

उपगुप्त : (अशोक से) महाराज, सद्धम्म के भिन्न-भिन्न निकायों का एकीकरण करने के निमित्त जो संगीति बैठने वाली है उसकी घोषणा के लिए आज दीपावली के शुभ दिवस से बढ़कर दिवस और दीपावली की इस धर्म-यात्रा से बढ़कर और कौन अवसर आयगा।

अशोक : हाँ, हाँ, गुरुदेव, उस घोषणा के लिए यही उपयुक्त अवसर है। आप वह घोषणा कर दें।

उपगुप्त : (ऊँचे स्वर से) सुनो नागरिको और समस्त उपस्थित जनसमुदाय ! पाटलिपुत्र के अशोकाराम में एक ऐतिहासिक बात होने वाली है।

कुछ नागरिक : (एक साथ) कौनसी, कैसी ?

उपगुप्त : भगवान् तथागत द्वारा संस्थापित सद्धम्म में कुछ मतभेद हो गये हैं। उन मतभेदों के कारण भिन्न-भिन्न निकाय। इन समस्त निकायों के एकीकरण करने के निमित्त, इन समस्त निकायों के विद्वानों की अशोकाराम में एक संगीति बैठेगी। उसमें शास्त्रार्थ होगा। समस्त निकायों के एकीकरण के निमित्त सारे प्रयत्न किये जायँगे। धम्म-शास्त्र के विवेचन के श्रवण का इससे अधिक महत्त्वशाली अवसर किसी को भी जीवन में मिलने वाला नहीं है। धम्म के श्रद्धालु सज्जन अशोकाराम में उपस्थित हो इस शास्त्रार्थ का श्रवण कर सकते हैं। संगीति की तिथियाँ कुछ समय पश्चात् घोषित की जायँगी !

कुछ नागरिक : धन्य है, धन्य है !

कुछ नागरिक : देवानाम् प्रिय प्रियदर्शी चक्रवर्ती धार्मिक धर्म-राज राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

कुछ नागरिक : गुरुदेव उपगुप्त की जय !

कुछ नागरिक : भगवान् तथागत की जय !

कुछ नागरिक : सद्धम्म की जय !

[कुछ देर निस्तब्धता ।]

पहला नागरिक : (नर्त्तकियों से) इस दीपावली के शुभ दिवस कोई सुन्दर गान सम्राट् को न सुनाया जायगा ?

एक नर्त्तकी : जैसी सम्राट् की आज्ञा ।

अशोक : हाँ, हाँ, मैं सहर्ष सुनूंगा ।

[**गान आरम्भ होता है ।**]

गीत

अम्बर अवनी पर उतर रही
यह अमा निशा तम वाली ।
अञ्चल में नभ के दीपक
जुगनू को झिल-मिल जाली ।
घन श्यामलता घर-घर की
उज्ज्वल करती दीपाली ।
जगमग दीपक के नीचे
छिपती अँधियारी काली ।
निज क्षण भंगुर जीवन को
भूला सा दीपक हँसता ।
इस महा श्याम गह्वर में
निर्भय एकाकी बँसता ।
मिट्टी के तन में जलती
चुपचाप ज्योति की ज्वाला ।
क्षण-क्षण में हटता जाता
अभिमान, मोह, तम काला ।

यवनिका

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र में राजभवन के गर्भागार के अवरोधन में
कारुवाकी का कक्ष

समय : रात्रि

[यह वही कक्ष है जिसमें असंधिमित्रा का निवास था। असंधिमित्रा की मृत्यु हो चुकी है और अब इस कक्ष में असंधिमित्रा का एक बड़ा भारी चित्र लगा हुआ है। कारुवाकी एक शयन पर बैठी हुई तमूरा बजाकर गा रही है। कारुवाकी इस प्रकार बैठी हुई है जिससे उसका मुख असंधिमित्रा के चित्र की ओर है। एक प्रकार से वह यह गीत असंधिमित्रा के चित्र को सुना रही है। कारुवाकी अब वृद्ध हो चली है। उसकी अवस्था लगभग पचास वर्ष की है। कानों के निकट के केश श्वेत हो गये हैं। परन्तु इतने पर भी उसमें प्रौढ़ सौन्दर्य विद्यमान है।]

गीत

हे विहग मानस के अधीर।
खोल पर तुम उड़ चलो उस दूर गत के तीर।
नील नभ सा था जहाँ अन्तर अनन्त उदार,
अचल क्षिति सी धृति अटल थी सह अपरिमित भार,
साँस में था मन्द शीतल सुरभि शान्त समी-

रवि-रश्मि का था प्राण-प्रद पावन प्रखर उत्ताप,
मान के धन दूर-लम्बित भर हृदय में भाप,
तरल करुणा सा झलकता लोचनों में नीर।
आज आश्रय-हीन खग सी भावना की भीर।

कारुवाकी : (गीत पूर्ण होने पर) चली गयीं···तुम चली गयीं, जीजी ! और···और मेरा···मेरा तो संसार हाँ, सारा संसार शून्य करके चली गयीं ! ऐसा ··ऐसा स्नेह···ऐसा ···ऐसा प्रेम···ऐसा···ऐसा प्रणय किसने···किसने पाया होगा, इस जीवन में, जैसा···जैसा मैंने पाया था तुम से ! माता, भगिनि, सखी, सभी कुछ, हाँ, सभी कुछ थीं तुम··· तुम मेरी ! अपने···अपने से अधिक···कहीं अधिक ध्यान रहता था तुम्हें मेरा। कब···कब सोती हो···कब···कब उठती हो, नींद आयी या नहीं, और वह भी सुख से आयी या नहीं, स्वप्नों वाली तो नहीं आयी, टूट-टूटकर तो नहीं आयी, खाया या नहीं···क्षुधा से खाया या नहीं, स्वाद से खाया या नहीं, तुम्हारे···तुम्हारे ये नित्य के प्रश्न होते थे, हाँ, नित्य के। तुम···तुम तो गयीं जीजी, ···पर···पर तुम्हारे जाने से मैं···मैं तो मृतक से भी अधिक हो गयी। कौन···कौन अब वैसे प्रश्न पूछता है ? जब ···जब तुम थीं उस समय···उस समय तो अनेक बार··· अनेक बार ऐसे प्रश्नों पर मैं···मैं ऊब उठती थी, पर··· पर अब···अब वे ही प्रश्न कितने स्मरण आते हैं। और ···और कितना ध्यान रहता था तुम्हें, उस तीवर का,

महेन्द्र और कुणाल से भी अधिक, हाँ, महेन्द्र और कुणाल से भी अधिक। कौन···कौन विमाता अपनी सौत के पुत्र का इतना···इतना ध्यान रखती है। और···और चली गयी तुम्हारे साथ-साथ श्री, समस्त शोभा राजभवन के इस···इस गर्भागार की, गर्भागार के इस···इस अवरोधन की, और···और अवरोधन, गर्भागार की क्या, समस्त राजभवन की। मैं तो कहूँगी सारे पाटलिपुत्र की, सारे भारतीय साम्राज्य की। (कुछ रुककर) फिर···फिर क्या कर डाला सम्राट् ने, इस वृद्धावस्था में ? तिष्यरक्षिता के सदृश तुम्हारी दासी से विवाह ? वह···वह तिष्यरक्षिता ···ओह !···ओह !···

[**तिष्यरक्षिता का प्रवेश। तिष्यरक्षिता लगभग पच्चीस वर्ष की अवस्था की गौर वर्ण की अत्यन्त सुन्दर युवती है।**]

तिष्यरक्षिता : हाँ, कोसो मुझे, जितना कोसते बने उतना कोसो ! मुँह भरकर कोसो, पेट भरकर कोसो ! पर जानती हो इस कोसने से मेरा कुछ बिगड़ने वाला नहीं है। सुनती थी जब महिलाएँ प्रौढ़ हो जाती हैं और सारा सौन्दर्य खो जाने के कारण पति द्वारा तिरिस्कृता, त्यक्ता, तब उनकी अन्य इन्द्रियों में तो बल नहीं रहता पर जीभ में बड़ी शक्ति आ जाती है और वह शक्ति अन्यों के कोसने में लय होती है, अन्य किसी बात में भी नहीं। मैं तो यह आशा करती थी कि जिस प्रकार बड़ी रानी ने तुम्हें माता

था उसी प्रकार तुम मुझे मानोगी, पर वह उदारता तुम में कहाँ !

कारुवाकी : चुप भी रह, एक वार बोलना आरम्भ करती है तो किसी वाक्य पर विश्राम लेना तक नहीं जानती ।

तिष्यरक्षिता : तुम जानती हो विश्राम लेना ! मैंने अभी तुम्हारी वे सब बातें सुन लीं जो तुम बड़ी रानी के चित्र से कर रही थीं। और अभि क्या, न जाने कितनी वार सुना करती हूँ। घड़ियों पर घड़ियें बीत जाती हैं, निर्जीव चित्र से बातें करते, पर जब मैं कोई वात करने आती हूँ, मुझे जली-कटी ही सुनाती हो। मैं तुम से छोटी थी आशा करती थी वैसा ही स्नेह और प्रेम पाऊँगी तुम से, जैसा तुमने पाया था बड़ी रानी से। पर कहा न, वह उदारता तुम में कहाँ !

कारुवाकी : फिर चल पड़ी चंचल जीभ ! बड़ी रानी की और मेरी उदारता में तुलना तो नहीं हो सकती, पर जानती हैं स्नेह और प्रेम उपयुक्त पात्र ही पाता है।

तिष्यरक्षिता : तो तुम बड़ी उपयुक्त पात्र थीं, मैं नहीं ! तुम में जितना सौन्दर्य था उससे मुझ में कहीं अधिक है; देखो तो अपनी आँखें और मेरे नयन, देखो तो अपनी नाक और मेरी नासिका, देखो तो अपने ओंठ और मेरे अधर, देखो तो अपने दाँत और मेरी दन्त-पंक्ति। अरे मिलान कर लो न अपने मुखड़े और सारे शरीर से मेरे आनन और तन का।

कारुवाकी : दोनों हाथों से कानों को थपथपाते हुए) तेरी

इस नित्य-प्रति की चखचख से मैं तो बहरी हो जाऊँगी।

तिष्यरक्षिता : बहरी चाहे हो जाओ, पर, मेरे प्रति तुम्हारा व्यवहार न बदलेगा ; क्यों ? मैं कहती हूँ, मेरे लिए नहीं अपने लिए ही इस व्यवहार में परिवर्तन करो। महाराज का मुझ पर जो प्रेम है, वह तुमसे छिपा नहीं है। यदि मैं उन्हें कह दूँ कि तुम्हारे कक्ष में पैर न रखें तो कक्ष में पैर रखना तो अलग रहा, दूर से इस कक्ष को देखेंगे भी नहीं। यदि मैं कह दूँ कि तुम से बात न करें तो बात करना तो अलग रहा तुम्हारी छाया के निकट भी न आयँगे।

कारुवाकी : तुझे जो कहना हो कह दे, जो करना हो कर डाल; मेरे प्राण तो न खा। (खीझकर) दासी तो ठहरी !

तिष्यरक्षिता : *(अत्यन्त क्रोध से)* दासी !···दासी ! कभी दासी रही होऊँगी, आज तो रानी हूँ, वैसी ही रानी जैसे बड़ी रानी थीं, वैसी ही रानी जैसी तुम हो। नहीं-नहीं भूल गयीं, मुझ पर जैसा राजराजेश्वर का प्रेम है वैसा प्रेम न कभी बड़ी रानी पर हुआ था और न तुम पर है। बुढ़िया, खूसट कहीं की !

[पैर पटकती हुई जाती है। उसके जाने पर कारुवाकी जोर से हँस पड़ती है और कुछ रुककर फिर तमूरा उठा बजाकर गाने लगती है।]

रंगीन स्वप्न संसृति के
इन प्यालों में हैं घुलते ।

[तिष्यरक्षिता गीत पूर्ण होने पर एक शयन पर पैर ऊपर कर बैठ जाती है और दोनों घुटनों के बीच में चित्र रख उसे एकटक देखती रहती है ।]

तिष्यरक्षिता : (चित्र से) कितने···कितने सुन्दर हो तुम, कुणाल ! विधाता ने सारे शरीर और मुख में सौन्दर्य कूट-कूटकर, हाँ, कूट-कूटकर भर दिया है । और···और समस्त अवयवों में तुम्हारे ये नेत्र···तुम्हारे ये नयन···तुम्हारे ये लोचन ! ओह ! रतनारे मद से भरे हुए हैं; ऐसे मद से भरे हुए कि जिन्हें देखते ही समस्त सृष्टि की सुन्दरियाँ मदमाती···हाँ, मदमाती हो जायँ । ऐसा···ऐसा मद जो पान करने से मंदालसा नहीं बनाता पर दर्शन···दर्शन से ही मदमत्त कर देता है । और···और कहाँ···कहाँ तुम, कहाँ···कहाँ वह काञ्चनमाला । तुम्हारे योग्य मैं थी ! और तुम थे मेरे योग्य ! (कुछ रुककर) थी क्यों ? और थे क्यों ? अभी भी मैं···मैं ही तुम्हारे योग्य हूँ, और तुम्हीं ···तुम्हीं मेरे योग्य । यदि···यदि इन···इन नयनों से नेह का एक कटाक्ष भी पा जाऊँ, जीवन···जीवन सफल हो जाय मेरा; और···और मेरा ही नहीं, तुम्हारे उस प्रणय के बदले में तुम···तुम भी मेरा जो प्रेम प्राप्त करोगे उस ···उससे तुम्हारा जन्म भी सफल हो जायगा ।···कैसा··· कैसा सुखमय होगा मेरा और तुम्हारा प्रेमपूर्ण वह जीवन !

कौन कर सकता है उस जीवन का वर्णन, अरे वर्णन क्या कल्पना भी !···हमारे यौवन वसन्त के उस···उस जीवन यापन की प्रेरणा के लिए वादरायण के काम-सूत्रों से भी विशद्, हाँ, विशद् ग्रंथ की आवश्यकता होगी। (कुछ रुक-कर) तुम जब···जब मुझे माता संबोधन से सम्बोधित करते हो तब···तब मेरे तन में, मेरे समूचे तन में आग-सी लग जाती है। मन···मन भी जलने, हाँ, जलने लगता है। सुनती थी माता शब्द तो बड़ा प्यारा शब्द है···माता का हृदय पुत्र से वह संबोधन सुन ऐसा पुलकित होता है, उल्लसित होता है जैसा···जैसा किसी अन्य शब्द से नहीं। पर···पर वह तब होता होगा जब···जब कोई स्त्री यथार्थ में माता होती होगी। मैं···मैं तुम्हारी माता कैसी ? अव-स्था में भी तुमसे कम। (कुछ रुककर) कितनी···कितनी बार तुम्हें देखती हूँ···कितनी···कितनी बार तुम से बात करती हूँ, सदा···सदा तुम्हारी भावनाओं का पता पाने के लिए, पर···पर अब तक तो पता नहीं लगा सकी। प्रेम···प्रेम यदि बहुत गहरा हो तो उसकी सच्ची हाँ, सच्ची भावनाओं को जानने के लिए उसी प्रकार गहराई में डुबकी···डुबकी लगानी पड़ती है, जिस प्रकार मुक्ता प्राप्त करने के लिए समुद्र में। पर···पर यह प्रतीक्षा···प्रतीक्षा का जीवन अत्यन्त कष्टप्रद हो गया है। आज···आज इस संबंध में कोई न कोई निर्णय कर ही लेना होगा।

[कुणाल का प्रवेश उसकी अवस्था लगभग

उन्तीस वर्ष की दिखती है। वह गौर वर्ण, ऊँचे कद, छरहरे शरीर का सचमुच अत्यन्त सुन्दर युवक है, लाखों-करोड़ों में एक। उसके बड़े-बड़े लोचनों में अद्‌भुत प्रकार का मद से भरा सौन्दर्य है।]

कुणाल . माताजी, आपने मुझे बुलाया है?

तिष्यरक्षिता : (कुणाल की आवाज सुन जल्दी से उसके चित्र को चौकी पर रखते और सिटपिटाकर उठते हुए) हाँ, हाँ, कुणाल।

कुणाल : (जिसने अपना चित्र तिष्यरक्षिता के घुटनों पर रखे देख लिया था, अपने चित्र को देखते हुए) माताजी, आप मेरा चित्र देख रही थीं?

[तिष्यरक्षिता कोई उत्तर नहीं देती। एक बार नेत्र उठाकर कुणाल की ओर देखती है और फिर दृष्टि नीची कर लेती है। कुछ देर तक विचित्र प्रकार की निस्तब्धता।]

कुणाल : माताजी, आपको मेरे इस चित्र में कोई विशेषता दृष्टिगोचर होती है?

तिष्यरक्षिता : यदि किसी में कोई विशेषता होती है तो वह विशेषता उसके चित्र में नहीं आ जाती!

[कुणाल का सिर झुक जाता है। कुछ देर फिर निस्तब्धता।]

कुणाल : (एक आसन्दी पर बैठते हुए) माताजी, इधर कुछ समय से आपके सारे व्यवहारों में मुझे कुछ विचित्रता दृष्टिगोचर होती थी। इसके कारण अनेक बार मैं कुछ सोच में भी पड़ जाता था। पर, आज अचानक सब बातें

स्पष्ट हो गयीं।

तिष्यरक्षिता : **(साहस के साथ)** भगवान् ने सचमुच मुझ पर बड़ी कृपा की। ऐसा प्रसंग ही उपस्थित हो गया कि मुझे कुछ नहीं कहना पड़ा और सब बातें स्पष्ट हो गयीं। **(दूसरी आसन्दी पर बैठ जाती है।)**

कुणाल : आप जानती हैं, आपकी भावनाएँ आपको कहाँ ले जा रही हैं?

तिष्यरक्षिता : **(उसी प्रकार साहस से)** वहीं जहाँ ले जाना चाहिए।

कुणाल : माताजी···माताजी !

तिष्यरक्षिता : मुझे माता न कहो। कैसे मैं तुम्हारी माता और कैसे तुम मेरे पुत्र !

कुणाल : पर पिताजी ने आपसे विवाह जो किया है।

तिष्यरक्षिता : पिता के विवाह करने से ही कोई माता हो जाती है?

कुणाल : पिता जिस स्त्री से विवाह करता है, वह माता नहीं तो और क्या होती है?

तिष्यरक्षिता : पिता की पत्नी हो सकती है, पर माता नहीं। तुम से भी कम अवस्था वाली मैं तुम्हारी माता !

[कुणाल का सिर झुक जाता है। कुछ देर निस्तब्धता।]

कुणाल : **(दीर्घ निःश्वास छोड़कर)** इस वृद्धावस्था में आपके सदृश तरुणी से विवाह कर पिताजी ने एक अनुचित कार्य किया है इसे मैं स्वीकार करता हूँ। परन्तु, इस विवाह में

रानी बनने की आपकी महत्त्वाकांक्षा भी कम उत्तरदायी नहीं है। फिर दो अनुचित बातें मिलकर एक उचित बात तो नहीं होती।

तिष्यरक्षिता : तो जिसे तुम माता कहते हो उसे उपदेश देने आये हो ?

कुणाल : मैं आया तो हूँ आपके बुलाने पर, किन्तु जब माता कहता हूँ तो आप कहती हैं कैसे आप मेरी माता और कैसे मैं आपका पुत्र। जब और कुछ निवेदन करता हूँ तब आप कहती हैं, जिसे तुम माता कहते हो उसे उपदेश देने आये हो !

तिष्यरक्षिता : मैंने तुम्हें उपदेश देने नहीं बुलाया था।

कुणाल : आपने जिस लिए बुलाया था वह तो मैं समझ गया, परन्तु मैं आप से स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि आप मुझसे किसी अनुचित अभीष्ट के सिद्धि की आशा न रक्खें।

[तिष्यरक्षिता क्रोध भरी मुद्रा में नेत्रों से अग्नि-सी बरसाती हुई कुणाल की ओर देखती है। कुणाल नतमस्तक हो जाता है। कुछ देर निस्तब्धता। तिष्यरक्षिता का क्रोध थोड़ी ही देर में करुणा में परिवर्तित हो जाता है।]

तिष्यरक्षिता : **(करुण स्वर में)** कुणाल...कुणाल !

कुणाल : **(तिष्यरक्षिता की ओर देखते हुए)** माताजी, मैंने आपसे निवेदन कर दिया कि आप मुझसे किसी अनुचित अभीष्ट के सिद्धि की आशा न रक्खें।

तिष्यरक्षिता : **(उसी प्रकार के स्वर में)** पर, कुणाल, क्या उचित

है और क्या अनुचित इसकी जगत में कभी कोई ठीक और अन्तिम व्याख्या हो पायी है ?

कुणाल : देश-काल के अनुसार सदा उचित और अनुचित की व्याख्या हुई है ।

तिष्यरक्षिता : और वह सदा परिवर्तनशील है । एक समय था जब विवाह संस्था ही नहीं थी । पुरुष और नारी सह-जीवन के लिए स्वतन्त्र थे । वरन् माता पुत्रों को इसलिए पालती-पोसती थी कि युवा होने पर वे उनके साथ पति का-सा आचरण करेंगे । भाई और बहन तो पति-पत्नियों के सदृश रहते ही थे फिर गण लग्न आये और…

कुणाल : (बीच ही में) आप व्यर्थ की बकवाद कर रही हैं ! मानव ने विकास के पथ से धीरे-धीरे अपनी उन्नति की है । वह कन्दरा में रहने वाला पशु या घोंसले में रहने वाला पक्षी अथवा जल के भीतर किसी बिल में रहने वाला जलचर नहीं, वह सामाजिक प्राणी है । समाज बिना नैतिक सिद्धान्तों के संगठित नहीं रह सकता । मानव ने अपने अनुभवों के आधार पर इन नैतिक सिद्धान्तों का निर्माण किया और नर-नारी के सह-जीवन के लिए विवाह संस्था की स्थापना हुई । मैं उन मानवों में हूँ जो यह मानते हैं कि नर-नारी के सह-जीवन के लिए विवाह से अच्छी अन्य कोई पद्धति नहीं ।

तिष्यरक्षिता : और उस विवाह का एक रूप तुम्हारे पिता और मेरा विवाह भी है, जिसे तुमने स्वयं [illegible] अनुचित

बताया है।

कुणाल : यह विवाह का कुत्सित रूप है, इसे मैं स्वीकार करता हूँ।

तिष्यरक्षिता : तब ?

कुणाल : तब भी, मैं जो कुछ आप चाहती हैं, उसे उचित नहीं मानता।

[तिष्यरक्षिता कुणाल की ओर देखने लगती है। कुणाल सिर नीचा कर लेता है। कुछ देर निस्तब्धता।]

तिष्यरक्षिता : (प्रेम भरे स्वर में) कुणाल, जीवन के दूसरे पहलू की ओर भी देखो, रसमय पहलू की ओर। भगवान् ने मनुष्य योनि दी है ! फिर मनुष्य योनि में सौन्दर्य का सर्वश्रेष्ठ स्थान है ! इस सौन्दर्य में युवावस्था ! कितने सुन्दर हो तुम और कितनी सुन्दर हूँ मैं ! यह जीवन सदा नहीं रहता, जीवन की तरुणाई के इस हरे-भरे उपवन में यह ऋतुराज वसन्त भी सदा रहने वाला नहीं है। धन्य हैं वही जो इस जीवन की इस अवस्था में सुखोपभोग कर इसका रस लेते हैं।

कुणाल : (कड़ककर) अपने को सम्हालिये, माताजी, मैं कल ही पाटलिपुत्र छोड़ दूंगा।

तिष्यरक्षिता : मुझसे भागना चाहते हो ?

कुणाल : पलमात्र को भी यह न सोचियेगा कि आपके प्रति मेरा तनिक भी आकर्षण है इसलिए मैं अपने को बचाने के लिए यहाँ से भाग रहा हूँ।

तिष्यरक्षिता : तब ?

कुणाल : पिताजी की कुछ समय से इच्छा थी कि मैं तक्षशिला का राष्ट्रीय बनकर जाऊँ। आपने एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि अब मेरा जाना ही श्रेयस्कर है। **(जाने के लिए खड़ा हो जाता है।)**

तिष्यरक्षिता : (पुनः क्रोध से) कुणाल, तुम एक बात जानते हो ?

कुणाल : कौनसी ?

तिष्यरक्षिता : जिसके प्रणय का तिरस्कार किया जाता है वह नारी भूखी बाघिन हो जाती है।

कुणाल : भूखी बाघिन होकर आप मुझे चीर-फाड़कर खा सकती हैं, पर तीसरी बार फिर दोहराता हूँ कि आप मुझसे किसी अनुचित अभीष्ट के सिद्धि की तनिक भी आशा न रखें। **(शीघ्रता से प्रस्थान।)**

तिष्यरक्षिता : (तमककर खड़े हो इधर-उधर टहलते हुए दांत पीसकर अत्यन्त क्रोध से) अच्छा...अच्छा, कुणाल, मैं...मैं तो तुम्हें सुख देना चाहती थी, अपूर्व सुख और स्वयं भी उस सुख से सुख पाना चाहती थी। पर...पर मेरा ऐसा तिरस्कार ! इसका यदि भीषण और पूर्ण प्रतिकार न लिया तो...तो मैं तिष्यरक्षिता नहीं, सच्ची स्त्री नहीं।

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र के राजभवन के गर्भागार में अशोक का कक्ष

समय : रात्रि

[कक्ष वही है जो दूसरे अंक के पहले दृश्य में था, परन्तु इसकी सजावट में बहुत अन्तर हो गया है। कक्ष के पीछे भित्ति में विन्दुसार, सुभद्रांगी, असंधिमित्रा और विगताशोक बड़े-बड़े चित्र लगे हैं। इन चित्रों के अतिरिक्त पीछे की तथा दोनों ओर की भित्तियों के जो भाग दिखते हैं, उन पर भी पाटलिपुत्र के अशोकाराम तथा देश के अन्य विभागों में बने हुए चौरासी हजार बौद्ध विहारों में से कुछ बड़े-बड़े विहारों, शिला-स्तूपों, शिला-स्तंभों, धर्म-यात्राओं, धर्म-प्रचारकों की सभाओं, शिलालेखों आदि के चित्र हैं। कक्ष की भूमि पर शयनों, आसन्दियों और चौकियों आदि के अतिरिक्त साँची और भारहुत के बौद्ध स्तूपों, सारनाथ के स्तंभ, लोरिया नन्दगढ़ के स्तंभ तथा अन्य स्तंभों के पाषाण के नमूने सजे हुए हैं। इनमें सबसे अधिक ध्यान को आकर्षित करने वाला सारनाथ के स्तंभ का नमूना है, जिसके चारों ओर सिंह और सिंहों के नीचे का चक्र तथा चक्र के दोनों ओर के वृषभ और अश्व स्पष्ट दीख पड़ते हैं। अशोक और कारुवाकी कक्ष में सारनाथ के स्तंभ के नमूने के सामने खड़े हुए हैं। अशोक अब वृद्ध होगया है। सारे केश श्वेत हो गये हैं. पर शरीर और मुख पर बालों की सफेदी के अतिरिक्त वृद्धावस्था का अन्य कोई चिह्न नहीं है। कारुवाकी

की अवस्था हमने उसे जब इस अंक के दूसरे दृश्य में देखा था, उससे भी कुछ अधिक हो गयी है, जो उसके केशों की श्वेतता बढ़ जाने से ज्ञात होता है।]

अशोक : प्रिये, आज मेरे राज्यारंभ को बारह-बारह वर्षों के तीन युग समाप्ति के उत्सव के कारण छत्तीस वर्षों की न जाने कितनी घटनाएँ और बातें मुझे स्मरण आ रही हैं।

कारुवाकी : ऐसे अवसरों पर बीते हुए समय की विविध घटनाओं और बातों का स्मरण आना स्वाभाविक ही है, नाथ।

अशोक : इन छत्तीस वर्षों में क्या-क्या सोचा, क्या-क्या किया और जो सोचा तथा किया वह सब सुरक्षित रहेगा (दाहिने हाथ की तर्जनी को कक्ष के समस्त चित्रों और पाषाण के नमूनों की ओर घुमाते हुए) इन सब शिला-स्तूपों, शिला-स्तंभों, शिलालेखों आदि के कारण।

कारुवाकी : और इन सबमें प्रधान है यह सारनाथ वाला स्तंभ।

अशोक : अवश्य।

कारुवाकी : इस स्तंभ के ये चारों सिंह और सिंहों के नीचे [illegible] चक्र सचमुच ही कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हैं।

अशोक : सौन्दर्य के अतिरिक्त ये अनेक महत्वपूर्ण [illegible] के सूचक और परिचायक भी हैं। (कुछ रुककर) [illegible] के चौथे युग के इस दिवस को इन शिला[illegible] कुछ महत्वपूर्ण शिलालेखों को पढ़ जाओ।

ारुवाकी : हाँ, इससे पुराने संस्मरण पुनः नवीन हो जायँगे जो ऐसे महत्त्वपूर्ण दिवसों के उत्सव का प्रधान लक्ष रहता है।

ाशोक : (एक शिलालेख के चित्र के सम्मुख जा) पढ़ो, प्रिये, इस लेख को पढ़ो। मेरे मानसिक परिवर्तन के प्रारंभ का प्रतीक यही लेख है।

कारुवाकी : (लेख पढ़ते हुए) "कलिंग युद्ध पर देवताओं के प्रिय को वड़ा पश्चात्ताप हुआ। देवताओं के प्रिय को इस बात से बड़ा खेद हुआ कि एक नये देश के विजय करने के समय कितने लोगों की हत्या करनी पड़ी, कितनों की मृत्यु हुई, कितने ही कैद किये गये।...कलिंग देश की विजय के समय जितने आदमी मारे गये, मारे या कैद हुए उनका शतांश अथवा सहस्रांश भी यदि मारा जाय या देश से निकाला जाय तो वह देवताओं के प्रिय को बड़ा दुःख का कारण होगा...देवताओं का प्रिय सब जीवों की रक्षा, संयम, समचर्या तथा हित चाहता है। धर्म की ही विजय को देवताओं का प्रिय मुख्य विजय मानता है।"

अशोक : (दूसरे लेख के चित्र के सम्मुख जाकर) अच्छा, इसे पढ़ो।

कारुवाकी : (लेख पढ़ते हुए) "सब मनुष्य मेरी सन्तान के समान हैं और जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरी सन्तान इस लोक और परलोक में सर्वप्रकार के हित और सुख को प्राप्त करे उसी प्रकार मैं चाहता हूँ कि सब

मनुष्य हित और सुख को प्राप्त करें ।"

अशोक : (तीसरे शिलालेख के चित्र के सामने जा) अब इसे पढ़ो ।

कारुवाकी : (शिलालेख को पढ़ते हुए) "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि धर्म का पालन करना ठीक है परन्तु धर्म क्या है ? पापों का अभाव और अच्छे कामों का करना अर्थात् दया, दान, पवित्रता और सच्चाई से जीवन निर्वाह करना ।"

अशोक : (चौथे शिलालेख के सामने जा) अब इसे ।

कारुवाकी : (पढ़ते हुए) "यहाँ कोई जीव मारकर बलिदान न किया जाय...पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के ही रसोईघर के लिए प्रतिदिन हजारों जीव मारे जाते थे पर जिस समय यह लेख लिखवाया गया केवल तीन जीव, दो मोर और एक हरिण मारे जाते हैं । इनमें भी हरिण नित्य नहीं मारा जाता । ये तीन जीव भी भविष्य में नहीं मारे जावेंगे ।"

अशोक : (पाँचवें शिलालेख के सामने जा) अब इसे पढ़ो ।

कारुवाकी : (पढ़ते हुए) "प्राचीन समय से राजा लोग आखेट तथा आमोद-प्रमोद और विहार-यात्रा के लिए निकलते थे । देवताओं के प्रिय राजा ने अपने राज्याभिषेक के दस वर्ष पश्चात् संबोधि की यात्रा की । इस प्रकार विहार-यात्रा के स्थान पर धर्म-यात्रा की प्रथा पड़ी ।"

अशोक : (छठवें शिलालेख के सामने जा) अब इसे भी पढ़ो ।

कारुवाकी : (पढ़ते हुए) "मनुष्य को दूसरे सम्प्रदायों का भी आदर करना चाहिए। ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय की उन्नति और दूसरे सम्प्रदायों का उपकार होता है। इसके विपरीत आचरण से न केवल दूसरे संम्प्रदाय का अपकार ही होता है वरन् अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुँचती है··· अपने आपस में मिल-जुलकर रहना और दूसरे के धर्म को आदर से सुनना ही अच्छा है।"

अशोक : (सातवें शिलालेख के सामने जा) फिर, प्रिये, मैंने केवल उपदेश ही नहीं दिये, इन उपदेशों के अनुसार स्वयं कार्य भी किया है, और राजसत्ता के द्वारा अनेक कार्य कराये भी हैं।

कारुवाकी : (पढ़ते हुए) "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यह कहता है कि प्राचीन समय से कभी ऐसा पहले नहीं हुआ कि किसी भी समय राजकीय समाचार तथा अन्य राजकाज संबंधी बातें राजा के सम्मुख उपस्थित की जाती हों, परंतु मैंने यह प्रबंध किया है कि प्रत्येक समय चाहे, मैं भोजन करता होऊँ, चाहे गर्भागार में होऊँ, चाहे अवरोधन में, चाहे पशुशाला में, चाहे देव-गृह में, चाहे उद्यान में, सब स्थानों पर प्रतिवेदक प्रजा के संबंध में मुझे सूचना दे सकते हैं। सब स्थानों में मैं प्रजा के कार्य करता हूँ। यदि किसी बात की मैंने आज्ञा दी हो उसके विषय में या जो कार्य महामात्यों के ऊपर छोड़े गये हैं या उन महामात्यों की परिषद् में संदेह, मतभेद या पुनर्विचार की

आवश्यकता हो तो विना विलम्ब के सब स्थानों और सब समय मुझे उसकी सूचना दी जाय। राज-कार्य में मैं कितना ही उद्योग करूँ उससे मुझे संतोष नहीं होता। सब लोगों की भलाई करना ही मैंने अपना कर्त्तव्य माना है और यह उद्योग और राज-कार्य संचालन से ही पूरा हो सकता है। सर्वलोक हित से बढ़कर और कोई अच्छा काम नहीं है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ वह इसलिए है कि प्राणी-मात्र का मेरे ऊपर जो ऋण है उससे मैं मुक्त होऊँ और उनका इस लोक तथा पर-लोक में हित बढ़े। यह धर्म-लेख इसलिए लिखवाया गया है कि यह चिरस्थायी रहे और मेरे पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र सब लोगों की भलाई के लिए सदा उद्योग करें। अत्यधिक प्रयत्न के विना यह कार्य कठिन है।"

अशोक : (आठवें शिलालेख के सामने जा) अब इसे पढ़ो, प्रिये !

कारुवाकी : (पढ़ते हुए) "मेरे राज्य में सब जगह युक्त, राजुक और प्रादेशिक प्रति पाँचवें वर्ष शासन संबंधी दूसरे कार्यों के साथ-साथ लोगों को यह धर्मानुशासन बताने के लिए भी दौरा करें—'माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, संबंधियों, ब्राह्मणों और श्रवणों की सहायता करना अच्छा है, जीवों को न मारना अच्छा है, थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संचय करना ही ठीक है। मंत्रि-परिषद् भी युक्तों को आज्ञा दें कि वे इसकी गणना रक्खें

कि ये दौरे किन उद्देश्यों से कहाँ और किस प्रकार किये गये ।"

अशोक : (नवम शिलालेख के सामने जा) अब इसे पढ़ो ।

कारुवाकी : (पढ़ते हुए) "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी के राज्य में सब स्थानों पर तथा जो पड़ोसी राज्य हैं जैसे चोंड, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपरणी और सीरिया के यवन राजा अंतियोक और उसके अन्य पड़ौसी राजाओं के देशों में भी देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने मनुष्यों की और पशुओं की चिकित्सा का प्रवंध किया है । मनुष्यों और पशुओं की उपयोगी औषधियाँ जहाँ-जहाँ नहीं हैं वहाँ लाकर लगवायी गयी हैं । इसी प्रकार जहाँ-जहाँ फल और फूल नहीं होते थे वहाँ पर वे भी लाकर लगवाये गये हैं । मार्गों में मनुष्यों और पशुओं के उपभोग के लिए कुएँ खुदवाये गये ।"

अशोक : (दसवें शिलालेख के सामने जा) और मनुष्य की अंतिम निर्वलता जो लोकैषणा है उनसे भी प्रेरित होकर मैंने यह सब नहीं किया है, यह तुम्हें इस शिलालेख के पढ़ने से ज्ञात हो जायगा ।

कारुवाकी : (पढ़ते हुए) "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यश या कीर्ति को लाभदायक नहीं मानता, जो कुछ भी यश या कीर्ति को वह चाहता है तो केवल इसलिए कि उसकी प्रजा वर्तमान और भविष्य में सदा धर्म को सुने और धर्म का पालन करे ।"

अशोक : (ग्यारहवें शिलालेख के सामने जा) और अब यह अंतिम लेख अपने संबंध में भी पढ़ लो।

कारुवाकी : (लेख पढ़ते हुए) "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की आज्ञा से सब स्थानों के महामात्यों को सूचना दी जाय कि द्वितीय रानी की दी हुई कोई भी भेंट का, फिर वह आम की वाटिका, उद्यान, सदावृत्त अथवा दूसरा कुछ भी हो निम्न प्रकार से उल्लेख किया जाय—

'द्वितीय रानी अर्थात् तीवर की माता कारुवाकी की दी हुई।' (कुछ रुककर) तो आपने मुझे भी अमर कर दिया।

अशोक : (कारुवाकी का हाथ पकड़ शयन पर बैठ तथा उसे बैठाते हुए) तो राज्यारंभ के तीसरे युग की समाप्ति और चौथे युग के प्रथम दिवस शयन के पूर्व हमने छत्तीस वर्षों के दीर्घकाल का सिंहावलोकन कर डाला।

कारुवाकी : यद्यपि उत्तरापथ से दक्षिणापथ तक आपके सहस्रों शिलालेख फैले हुए हैं और इन सहस्रों शिलालेखों में से आपने कुछ के ही चित्र यहाँ लगवाये हैं तथा उनमें से भी हमने कुछ ही पढ़े तथापि इतने से ही सिंहावलोकन तो हो ही जाता है।

अशोक : इस सिंहावलोकन को करते हुए मुझे वैसा ही जान पड़ा जैसे उस नाटक को देखने से जान पड़ता है जिसे पहले भली भाँति पढ़ लिया हो। फिर मेरे मन में एक बात और उठी।

कारुवाकी : कौनसी ?

अशोक : किसी बीज को सरलता से नष्ट किया जा सकता है, पर जब वह बीज वटवृक्ष के सदृश वृक्ष का रूप ग्रहण कर ले तब उसे नष्ट करना इतना सरल नहीं रहता। एक और बात भी मेरे मन में आयी।

कारुवाकी : कौनसी ?

अशोक : मानव अपने कार्य में अधिकतर इसलिए असफल होता है कि आयु बढ़ने पर वह सोचने लगता है कि अब समय ही कितना बचा है ? यह कोई नहीं जानता कि किसके लिए कितना समय निर्धारित है। कार्य करते समय तो हम यही सोचें कि आनेवाले कल का काम भी हमें आज कर डालना है। परन्तु, किसी कार्य के संकल्प के समय हमें यही विचार करना चाहिए कि हम अनन्त काल तक रहनेवाले हैं। समय रूपी झंझावात में हम अपने को पतझड़ का पत्ता न मानें। पानी का बुदबुदा न समझें। हम रेणु के एक कण हैं यह अनुभव न करें।

कारुवाकी : (कुछ देर सोचते हुए) ठीक।

[कुछ देर निस्तब्धता]

अशोक : प्रिये, मैंने किन विचारों से राज्य-ग्रहण का प्रयत्न किया था ? उस समय मेरा आदर्श वाक्य था 'वीर भोग्या वसुन्धरा'। राज्य ग्रहण के कुछ ही समय पश्चात् मेरे विचारों में परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ और कलिंग-युद्ध के पश्चात् तो विचार क्रान्ति ही हो गयी। उसी क्रान्ति

के अनुरूप आगे का कार्य भी हुआ। इस कार्य में मुझे सफलता नहीं मिली यह मैं नहीं कहता। सफलता और असफलता का संबंध यथार्थ में मनुष्य के अन्तःकरण से है। यदि मानव अपने अन्तःकरण में जो कुछ वह करता है उसके कारण आगे को उसी कृति को करने के लिए बल का अनुभव करता है, साथ ही अपने उद्देश्य में उसे पूर्ववत् विश्वास बना रहता है तो वह अपनी कृति में सफल हुआ यह मानना ही होगा। सफलता, जैसा मैंने अभी कहा, अपने अन्तःकरण से संबंधित है। अपने उद्देश्य को कार्य रूप में परिणत करने के लिए जिस बल की आवश्यकता है उसे अपने मन से दृढ़पूर्वक पकड़े रहना आवश्यक है, क्योंकि यदि मन में इन दोनों में से किसी का भी फिसलना आरम्भ होता है तो फिर उसकी कोई सीमा नहीं रह जाती। जैसे एक बुझे हुए तारे से निकला हुआ प्रकाश उस तारे के बुझ जाने पर भी कुछ काल तक दिखता रहता है उसी प्रकार फिसलते हुए मानव-मन की भीतरी अवस्था के बाह्य प्रदर्शन में देर लगती है पर यथार्थ में ज्योंही फिलसन आरम्भ हुई त्योंही सब कुछ समाप्त हुआ। मेरे अन्तःकरण में किसी प्रकार की फिसलन का लवलेश भी नहीं है। इसीलिए मैंने कहा मुझे अपने कार्यों में सफलता मिली है। फिर जो कुछ मैंने जीवन में किया है उससे मुझे संतोष ही है।

फारुखाकी आप 'संतोष ही' शब्द का प्रयोग करते हैं, नाथ !

अशोक : हाँ प्रियतमे, इसके कारण हैं।

कारुवाकी : कैसे ?

अशोक : तुम देखतीं नहीं कि ऐसे कार्यों के पश्चात् भी इस समय देश की कैसी अवस्था है ?

कारुवाकी : कैसी ?

अशोक : प्रजा को पूर्ण सन्तोष नहीं, जो मांसाहारी थे वे तो बहुत ही असंतुष्ट हैं। विहार-यात्राएँ जो धर्म-यात्राओं में परिणत हुई हैं वे कुछ लोगों की बड़ी रूखी-सूखी जान पड़ती हैं। भेरी-घोष के स्थान पर धर्म-घोष की नीति निर्बलता ला रही है, ऐसा कुछ लोगों का मत है, यहाँ तक कि अग्रामात्य राधागुप्त तक का।

कारुवाकी : इस प्रकार का थोड़ा-बहुत मतभेद तो, नाथ, इस विश्व में सदा रहता ही है।

अशोक : हाँ, यह तो मैं भी मानता हूँ और इसीलिए तो जीवन में मैंने जो कुछ किया उससे मुझे असंतोष नहीं है। मैंने कहा ही मुझे संतोष ही है।

कारुवाकी : आपको परम संतोष होना चाहिए, नाथ।

अशोक : मुझे परम संतोष होता यदि···यदि मैं व्यक्तिगत जीवन में सुखी रहता। असंधिमित्रा को मैं पलमात्र को भी विस्मृत नहीं कर पाता। लक्ष्मण के समान अनुज विगताशोक मेरे रहते मेरे सामने ही चल बसा। महेन्द्र और संघमित्रा भिक्षु-भिक्षुणी हो गये। कुणाल सुदूर स्थान तक्षशिला में है और···और एक बात है।

कारुवाकी : कौनसी ?

अशोक : आज के से दिवस को जब मैं अपना आत्म-निरीक्षण करता हूँ तब मुझे अपने में भी कुछ ऐसे दोष दिख पड़ते हैं कि क्या कहूँ !

कारुवाकी : निर्दोष तो भगवान् ही माने जाते हैं ।

अशोक : प्रिये, इस सृष्टि की इस सर्वश्रेष्ठ रचना मानव में मानव की भी दो इन्द्रियों का विरोध कदाचित् सबसे कठिन है ।

कारुवाकी : कौनसी इन्द्रियों का ?

अशोक : रसनेन्द्रिय और शिश्नेन्द्रिय का । मुझे मयूर और हरिण के मांस इतने रुचिकर थे कि अन्य जीव-हिंसा का निषेध कर देने के बहुत काल पश्चात् तक राज्य के रसोई-घर के लिए नित्य दो मयूरों और कभी-कभी हरिण का वध होता रहा । अत्यधिक कठिनाई से मैं रसनेन्द्रिय का निग्रह कर सका और इन जीवधारियों की भी हिंसा समाप्त हुई; परन्तु शिश्नेन्द्रिय का निरोध तो इस वृद्धावस्था में भी मुझसे नहीं हुआ । इस तिष्यरक्षिता से इस अवस्था में मेरा विवाह…

[नेपथ्य में गान सुन पड़ता है । अशोक और कारुवाकी का ध्यान उस ओर जाता है । दोनों चुप हो गान सुनने लगते हैं । गान में एक पुरुष और एक महिला का स्वर है ।]

गीत

पकड़ूँ किस अञ्चल का छोर !
पथ में भटक सिसकता दुर्बल
उत्पीड़न सह घोर।
तम-सागर में नयन खो गये,
आशा सुख उल्लास सो गये,
प्रलय निशा में डूब गया
इस जीवन का मधु भोर।
सत्ता सौख्य समर्पित तन मन,
व्यर्थ न्याय निष्ठा का गर्जन,
पीत पत्र सा धर्म उड़ाती
झञ्झा स्वार्थ झकोर।

अशोक : (गीत पूर्ण होते-होते कारुवाकी से) प्रिये, यह तो कुणाल और काञ्चनमाला का-सा स्वर जान पड़ता है।

कारुवाकी : हाँ, मुझे भी उन्हीं के स्वरों का भास होता है।

अशोक : देखूँ...देखूँ तो ! और प्रतिहारी को भेज बुलवाऊँ गानेवालों को। (शीघ्रता से प्रस्थान।)

[कारुवाकी कुछ ही देर में शयन से उठ कक्ष में इधर-उधर घूमकर कक्ष के चित्रों, पाषाण के नमूनों आदि को देखती है। कुछ गुनगुनाती भी रहती है। अशोक का कुणाल, काञ्चन-माला और दशरथ के साथ प्रवेश। तीनों भिखारियों के-से वस्त्रों में हैं। कुणाल अंधा हो गया है और लाठी से टटोलता हुआ चलता है। काञ्चनमाला सुन्दर युवती है। दशरथ सुन्दर बालक है।]

अशोक : (उद्विग्नता की पराकाष्ठा से एक शयन पर गिरते हुए) कारुवाकी; कारुवाकी ! कुणाल, अन्धा !

कारुवाकी : (झपटकर इन तीनों के निकट आते हुए) हैं, हैं !

[कारुवाकी स्तब्ध-सी कुणाल की ओर देखती है। कुणाल, काञ्चनमाला और दशरथ तीनों खड़े रहते हैं। एक विचित्र प्रकार की निस्तब्धता।]

अशोक : (शयन से धीरे-धीरे उठते हुए अत्यन्त भर्राये हुए स्वर में) कुणाल ! तुम्हारी आँखें और तुम्हारा यह वेष; पुत्रवधू काञ्चनमाला इस दशा में; और यह मेरा पौत्र दशरथ ! ओह !

कुणाल : आँखें तो, पिताजी, आपने मँगवायी थीं। आज्ञा पाते ही निकालकर भेज दीं और यह वेष तो इसलिए कि आँखों के जाने के पश्चात् तक्षशिला का राजकाज कैसे चलाता, यहाँ आने का निश्चय कर आया भी नहीं हूँ; अब तो जहाँ पैर ले जाते हैं, जाता हूँ, गाता हूँ और गाकर भीख माँग कर खाता हूँ। यह काञ्चनमाला अब क्या भारत सम्राट् की पुत्रवधू है ? यह दशरथ अब क्या भारत के राज-राजेश्वर का पौत्र है ? काञ्चनमाला है एक अन्धे भिखारी की पत्नी और दशरथ है एक दर-दर भटकने वाले सूरदास की लाठी।

अशोक : (जो कुणाल का पहला वाक्य सुनते ही घबराकर अवाक्-सा खड़ा होगया था और जो कुणाल की शेष बातें इस प्रकार सुन रहा था जैसे स्वप्न में कुणाल की

बात पूरी होते ही चौंककर) आँखें; तुम्हारी आँखें! मैंने मँगवायी थीं! मेरी आज्ञा का पालन कर तुमने आँखों को निकालकर मुझे भेजा था!

कुणाल : हाँ, पिताजी, आपका मुद्रा लगा हुआ आज्ञा-पत्र आया था।

अशोक : (चिल्लाकर) यह तो कोई षड्यन्त्र, भीषण, घृणित नीच षड्यन्त्र जान पड़ता है!

कारुवाकी : अवश्य, अवश्य।

[पागलों की-सी मुद्रा में तिष्यरक्षिता का प्रवेश]

तिष्यरक्षिता : हाँ, यह षड्यन्त्र था; भीषण षड्यन्त्र था; दारुण षड्यन्त्र था; घृणित षड्यन्त्र था; नीच षड्यन्त्र था! कहा गया है न कि पाप सिर पर चढ़कर बोलता है। वह आज बोल रहा है। यह मेरा षड्यन्त्र था।

[तिष्यरक्षिता के इस भाषण से एक विलक्षण प्रकार का सन्नाटा छा जाता है। कुछ देर निस्तब्धता।]

अशोक : (अत्यन्त क्रोध से) तू कितनी नीच है, इसका धीरे-धीरे पता मुझे लग रहा था, परन्तु···परन्तु तू इतनी नीच है इसका पता···इसका पता तो···(गला अवरुद्ध होने के कारण आगे कुछ नहीं कहने पाता।)

तिष्यरक्षिता : नीच ही नहीं, मैं तो इसके भी कहीं आगे हूँ, मानवों में उच्च और नीच मानव होते हैं, मैं तो मानवी ही नहीं, दानवी हूँ, राक्षसनी हूँ, पिशाचिनी हूँ!

कारुवाकी : दानवी और राक्षसनी भी कदाचित् ऐसी नहीं होती होंगी जैसी तू है ।

तिष्यरक्षिता : (क्रोध से कारुवाकी की ओर देखते हुए) तुम···तुम बीच में मत बोलो । मुझे जो कुछ कहना होगा मैं सम्राट् से कहूँगी । (अशोक से) नाथ ! मैं सब कुछ बता देती हूँ, कुछ छिपाकर न रक्खूँगी । एक वाक्य क्या, एक शब्द, उसका अक्षर और उसकी मात्रा भी असत्य न कहूँगी, कुणाल के सौन्दर्य ने मेरी तरुणाई को आकर्षित किया, मैंने कुणाल से प्रणय-भिक्षा माँगी और जब उसे न देकर ये तक्षशिला चले गये तब···तब असफल प्रेम और प्रतिशोध के दहकते दावानल की ज्वलित-ज्वाला में जलते हुए मैंने आपकी मुद्रिका का उपयोग कर वह पत्र कुणाल की आँखों के लिए भेजा जिसके संबंध में ये अभी आपसे कह रहे थे । इनके नयनों पर मैं सबसे अधिक मुग्ध हुई थी वही मैंने माँगे । मैं जानती थी कुणाल आपकी आज्ञा को किस दृष्टि से देखते हैं । मुझे विश्वास था उन लोचनों के पाने का । वे आँखें आ गयीं । उनके आते ही किस प्रकार देखा मैंने उन्हें ! उन नेत्रों में निज का क्या-क्या सौंदर्य था ? वह सुखमा तो थी उनके कुणाल के आनन पर रहने से ! उस पद से पदच्युत होते ही वे हो गये थे मांस के वीभत्स लोथड़े ; घृणित, दुर्गन्धयुक्त ! और···और उसी के साथ भयावह, क्योंकि···क्योंकि उनके पीछे उसके मँगाने का इतिहास जो था । और···और उन आँखों के आने के पश्चात्

भीषण दशा हुई है वह···वह तो वर्णन करने के परे है। अब मैं चाहती हूँ, मौत। इस कुकर्म, घोरतम कुकर्म करने के पश्चात् मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रहना चाहती।

[फिर कुछ देर निस्तब्धता।]

अशोक : **(दीर्घ निःश्वास छोड़कर शयन पर बैठते हुए)** मौत··· मौत से भी कहीं···कहीं भीषण दण्ड मिलना चाहिए, तुझे। पर···पर मौत से अधिक भीषण दण्ड हो क्या सकता है?

[तिष्यरक्षिता का धीरे-धीरे प्रस्थान। फिर कुछ देर निस्तब्धता।]

कारुवाकी : चलो, कुणाल, काञ्चनमाला, दशरथ, तुम लोग मेरे साथ आओ। तुम्हें इस समय विश्राम की सबसे अधिक आवश्यकता है।

[अशोक कुछ नहीं कहता। चारों का प्रस्थान। इनके जाने के पश्चात् अशोक दोनों हथेलियों पर अपना मुख रख रो पड़ता है। राधागुप्त का प्रवेश। राधागुप्त अत्यन्त वृद्ध हो गया है। राधागुप्त के आने की आहट पा अशोक अपना सिर उठाता है और राधागुप्त को देख अपनी आँखें पोंछ डालता है।]

राधागुप्त : श्रीमान् ने मुझे बुलाया था?

अशोक : **(स्वस्थ होते हुए)** हाँ, अग्रामात्य, बैठो।

[राधागुप्त शयन के निकट ही एक आसन्दी पर बैठ जाता है।]

अशोक : मैंने आपको इसलिए बुलाया था कि मैंने अपनी समस्त

सम्पत्ति जो कुक्कुटाराम के विहार को देने के लिए कहा था उसे क्या आपने रोक दिया ?

राधागुप्त : हाँ, महाराज, ऐसा करना अनिवार्य हो गया था।

अशोक : क्यों ?

राधागुप्त : इसलिए कि आपकी सम्पत्ति की अब राज्यकोष में आवश्यकता है।

अशोक : (कुछ आश्चर्य से) मेरी निज की सम्पत्ति की राज्य-कोष में आवश्यकता !

राधागुप्त : हाँ, सम्राट्, राज्यकोष से इतने अधिक दान हुए हैं कि राज्य-काज चलाने के लिए भी अब धन नहीं बचा है।

[अशोक सिर झुका लेता है। कुछ देर निस्तब्धता।]

अशोक : (सिर उठाते हुए) अग्रामात्य, मैं जानता हूँ कि जिस प्रणाली से इस समय इस राज्य का कार्य चल रहा है, उससे आप सहमत नहीं हैं।

राधागुप्त : हाँ, महाराज, मैं सहमत नहीं हूँ, परन्तु मेरे सहमत न रहने पर भी जब तक हो सका मैंने श्रीमान् की हर आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। मैं सोचता था अहिंसा और प्रेम के इस मार्ग से कदाचित् भारतीय साम्राज्य का एकीकरण हो समूचे जम्बूद्वीप की स्थायी भलाई हो सकेगी। पर अब मैं देखता हूँ यह सम्भव नहीं है। भारतीय साम्राज्य का एकीकरण और जम्बूद्वीप की भलाई तो दूर की बात है, अब तो मौर्य साम्राज्य में ही यत्र-तत्र विद्रोह उठ खड़े होते हैं। न सेना है और न कोष में धन।

मुझे भय है कि राजराजेश्वर सम्राट् चन्द्रगुप्त ने आर्य चाणक्य की सहायता से जिस मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी उस साम्राज्य के पैर भी लड़खड़ा रहे हैं, और क्षमा कीजिए, मेरी स्पष्टवादिता को, आपके पश्चात् मुझे इस राज्य की कुशल नहीं दिखती।

अशोक : (विचारते हुए) मैं तो बड़ा आशावादी व्यक्ति हूँ और आशावादी व्यक्ति के लिए जीवन का क्षितिज कभी भी अन्धकारमय नहीं रहता। फिर वह अपने जीवन के जो उद्देश्य स्थिर करता है वे केवल उद्देश्य नहीं रहते वरन् उद्देश्य रहते हुए भी कृति के साधन का भी काम करते हैं। खेद की बात इतनी ही रहती है कि मानव-प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ रचना होने पर भी सदा मानव नहीं रहता। राज्य और सम्पत्ति पर राज्य और सम्पत्ति से भी ऊँचे कामों के लिए अधिकार रहे तो बुरा नहीं, पर यदि चैतन्य मानव पर जड़ राज्य और सम्पत्ति का अधिकार हो जावे तब तो अवस्था शोचनीय हो जाती है और यहीं हिंसा का जन्म होता है। अहिंसा और प्रेम का मार्ग ही मैं इस देश, जम्बूद्वीप और सारे संसार के लिए कल्याणकारी मार्ग मानता हूँ। मौर्यवंश का राज्य ! यह···यह, अग्रामात्य, बड़ी···बड़ी ही गौण बात है। संसार में न कोई व्यक्ति सदा रह सकता है और न किसी कुल का सदैव दौरदौरा। जो हिंसा के मार्ग से चले उन व्यक्तियों का या उनके वंश का भी क्या सदा प्रभुत्व रहा है ? सृष्टि में सभी परि-

वर्तनशील है। हमें अपने कार्य में चाहे अभी पूर्ण सफलता न मिली हो पर आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों, सौ, हजार, दस हजार वर्ष में भी क्यों न हो, इसी मार्ग से विश्व का कल्याण सम्भव है। मैंने जितना भी विचार किया है यही सिद्ध हुआ कि जिस मार्ग पर मैं चल रहा हूँ वही ठीक मार्ग है। बलिष्ठतम अन्तःकरण वह है जो सारे संसार के विरोध के सम्मुख भी अपने मत पर एकाकी अटल खड़ा रह सकता है। मेरे मन में इस बात पर थोड़ा भी संदेह नहीं है कि मेरा मत ही ठीक मत है। यदि अच्छाई पर मन संदेह करने लगे तब तो जीवन जीने योग्य नहीं रह जाता। और अपने समय में जो कुछ हो रहा है वह ठीक न होने पर भी यदि यह विश्वास हो जाय कि उससे परे कुछ हो ही नहीं सकता अतः वही ठीक है तब तो संसार प्रगति नहीं कर सकता। अच्छे चित्रों में यदि कहीं छाया दिख पड़ती है तो वह इसलिए कि उस चित्र के द्युतिवन्त स्थान और भी द्युतियुक्त हो जायँ। फिर इस प्रकार के कार्यों का सच्चा फल तो युगों के पश्चात् निकलता है। यदि सिद्धान्त सही हैं तो उनका कभी न कभी सत्फल भी निश्चित है। (कुछ रुककर) अच्छा, इस विषय पर तो फिर कभी व्यौरेवार चर्चा होगी, अभी जो अनर्थ हुआ है, वह आपने सुना ?

राधागुप्त : (कुछ घबराकर) क्या···क्या हुआ, महाराज ?

अशोक : राजपुत्र कुणाल अन्धा होकर काञ्चनमाला और

दशरथ के साथ भिखारियों के वेष में तक्षशिला से आया है। तिष्यरक्षिता इस सारे काण्ड की अपराधिनी है। उसे मैंने प्राणदण्ड दिया है।

राधागुप्त : (**अत्यन्त आश्चर्य से**) अच्छा !

अशोक : मौर्य साम्राज्य का युवराज मैं कुणाल के पुत्र दशरथ को घोषित करता हूँ।

यवनिका

उपसंहार

स्थान : नयी दिल्ली

समय : प्रातःकाल, फिर रात्रि

[पीछे की ओर एक सफेद चादर है। नेपथ्य में गान की ध्वनि सुन पड़ती है। और चादर पर सिनेमा के फिल्म का प्रदर्शन प्रारम्भ होता है।]

गीत

हे अशोक ! मानव महान !

भारत गौरव ! मनुज पुजारी ! शासक करुणावान !
सुन कराह, रण में, कलिंग की, काँप उठे विजयी के प्राण;
रक्त-पात-भय-भीत मनुज ने, तुम में पाया, सच्चा त्राण !
रक्त-स्नाता विजय श्री का, मिथ्या माना, कलुषित मान;
पूर्ण अहिंसा विजित, मनुज-मन, सतत विजय का कहा प्रमाण;
हिंसा त्रस्त जगत् ने पाया, तुम में, पावन पैत्रिक प्रेम;
धर्म, सत्यता, दान, दयामय, आचारों में ममता क्षेम;
मृगया मोद-विहार गमन थे, नरपतियों के कौतुक नेम;
धार्मिक यात्रा प्रथा चलायी, नव संबोधि गमन का नेम;
शिलालेख अगणित में अंकित किये अनेकों निज उद्देश;
जीवन-पथ को सरल सुसंस्कृत करना, था, पावन उद्देश;
रसना तृप्ति, एक ही क्षण की, जीवों का असंख्य बलिदान;
घृणित, विगर्हित, कर्म-त्याग, यह, मानव का कर्तव्य महान्;

आदरणीय धर्म अपना है, अपर धर्म भी वन्दन योग्य;
प्रजा-कार्य-तत्पर निशिवासर, नृप-हित राज्य न केवल भोग्य।
मातृ-पितृ चरणों की सेवा, परिचित सम्बन्धी हित मान;
द्विज, श्रमणों की संस्कृति रक्षा, लघु व्यय का, संचय का, ध्यान।
जल-हित कूप व्यवस्था पथ में, आरोपित वृक्षों की पाँति;
छाया सुलभ, तृषा हो अपगत, पशु की मानव की ही भाँति।
प्रतिवेशी राज्यों में, प्रचलित किये, नियम के नये विधान;
पावें पशु भी मानव सम ही चतुर चिकित्सक, औषधि-दान।
सतत प्रवर्तित धर्म-चक्र से, हिंस्र-व्याघ्र भी बने विनीत;
तेज, आत्म-बल, युक्त, अहिंसा, शासित चारों दिशा पुनीत।

[गीत चलता रहता है और गीत के साथ सफेद चादर पर कुछ दृश्य आते तथा विलुप्त होते जाते हैं।]

[पहले साँची का बौद्ध-स्तूप दृष्टिगोचर होता है, आरम्भ में दूर से और फिर उसके अनेक भाग निकट से।]

[इसके बाद भारहुत-स्तूप दृष्टिगोचर होता है, यह भी पहले दूर से और फिर नजदीक से।]

[इन स्तूपों के पश्चात् लोरिया नन्दगढ़ का अशोक स्तंभ दिखता है। वह भी पहले दूर से और फिर निकट से।]

[तदनन्तर अशोक के एक के पश्चात् एक शिलालेख दिखायी देते हैं, ये भी पहले दूर से और फिर निकट से।]

[शिलालेखों के उपरान्त सारनाथ का अशोक स्तंभ दिखायी देता है, फिर इस अशोक स्तंभ के ऊपर का चार सिंहों वाला शिरोभाग दिख पड़ता है। यह कुछ देर तक निकट

से दिखता रहता है। चारों सिंह उसके नीचे हाथी, घोड़ा, बैल, और सिंह और हरेक चौपाये के बीच में एक-एक चक्र, इस प्रकार चार चक्र और इनके नीचे कमलासन बहुत निकट से दिखते हैं।]

[इसके पश्चात् दिल्ली के क़िले पर पंडित जवाहरलाल नेहरू भारत का राष्ट्रीय ध्वज चढ़ाते हुए दिखते हैं। तदनन्तर यह राष्ट्रीय ध्वज नजदीक से दिखता है और इस पर का अशोक चक्र। यहाँ उपर्युक्त गीत पूर्ण हो जाता है और भारत का राष्ट्रीय गीत "जन गण मन" आरंभ होता है। प्रातःकाल का सारा दृश्य रात्रि···में बदल जाता है और रात्रि को दिल्ली के कुछ हिस्से रोशनी में दिखायी पड़ते हैं। राष्ट्र-गीत के समाप्त होते ही यह दृश्य समाप्त होता है।]

यवनिका